श्रीविजयराजग्रन्थावली

श्रीव्रजराजग्रन्थावली

शाहोपाह्वेन असितेन पुनःसम्पादिता

प्रकाशक :
श्रीवल्लभविद्यापीठ-श्रीविठ्ठलेशप्रभुचरण आ.हो.ट्रस्ट
वैभव कॉपरेटिव सोसायटी, पूणे-बेंगलूर हाईवे,
कोल्हापुर : ४०० ०१६.

प्रकाशनवर्ष : वि.सं.२०७९

सम्पादक : असित शाह.

निःशुल्कवितरणार्थ

प्रति : ३००

मुद्रक :
पूर्वी प्रेस, राजकोट, गुजरात.

श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, मांडवी–कच्छ

ग्रन्थप्रकाशन :

साम्प्रदायिक परीक्षाकी पाठ्यपुस्तकें:

प्रवेशिका, ले. : गो.शरद् (गुजराती) १०
प्रवेशिका, ले. : गो.शरद् (अंग्रेजी) निःशुल्क
पुष्टिप्रवेश–१–२, ले. : गो.शरद् (हिन्दी) १०
पुष्टिपथ, ले. : गो.शरद् (हिन्दी) २०
प्रवेशिका, ले. : गो.शरद् (हिन्दी) निःशुल्क
पुष्टिप्रवेश १–२ ले. : गो.शरद् (गुज) २०
पुष्टिपथ, ले. : गो.शरद् (गुजराती) ३०
प्रमेयरत्नसंग्रह, ले. : गो.शरद् (गुजराती) ५०
Manual of the Devotional Path of Pushti, गो.शरद् ६५

साम्प्रदायिक विचारगोष्ठी

वार्तापरिचर्चा अप्राप्य
अधिकारपरिचर्चा दुर्लभ
शरणागति विचारगोष्ठी ५०
पुष्टिभक्ति तथा प्रपत्तिमें प्रतिबन्ध १००
पुष्टिफलमीमांसा १००
साधनाप्रणाली संगोष्ठी अप्राप्य
पुष्टिभक्तिमें कथासाधना संगोष्ठी अप्राप्य
सेवा–समर्पण विचारगोष्ठी ५०
जघन्याधिकार विचारगोष्ठी ८०
पुष्टिअस्मिता संवर्धन शिविर, राष्ट्रीय संमेलन, भरूच २५
पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा (विस्तृत–संक्षिप्तविवरण) १००

तत्त्वदर्शन विषयक राष्ट्रीय सेमिनार

शब्दखण्डीया विद्वत्परिचर्चा २००
कार्यकारणभावविद्वत्सङ्गोष्ठी २००
अन्धकारवादीया विद्वत्सङ्गोष्ठी २००
अन्यख्यातिवादीया विद्वत्सङ्गोष्ठी १५०
प्रत्यक्षप्रमाण विद्वत्सङ्गोष्ठी १५०
वाल्लभवेदान्त निबन्धसंग्रह, लेखक : गो. श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क

नित्यस्तोत्रपाठ:

पुष्टिपाठावली (हिन्दी) २०
पुष्टिपाठावली (गुजराती) २०
पुष्टिपाठावली (गुजराती) पोकेट साईझ १०
पुरुषोत्तमसहस्रनाम–त्रिविधलीलानामावली(गुर्जरभाषानुवाद) २०

सन्दर्भग्रन्थ:

पुष्टिविधानम् पादानुक्रमणिका १०
Summary of Shuddhadvaita Vangmaya, लेखक: गो.शरद १५
अमृत वचनावली (गुजराती) निःशुल्क
अमृत वचनावली (हिन्दी) निःशुल्क

अध्ययनोपयोगी ग्रन्थ:

पुष्टिविधानम्–२(व्याकरणम्) श्रीवल्लभाचार्य–श्रीगोपीनाथजी–श्रीगुसांईजी विरचित
२६ ग्रन्थोंका पदच्छेद–अन्वय– शब्दपरिचय–वृत्तिपरिचय १००
पुष्टिविधानम्–३ (व्रजभाषा) श्रीवल्लभाचार्य–श्रीगोपीनाथजी–श्रीगुसांईजी विरचित
२६ ग्रन्थोंका शब्दार्थ–श्लोकार्थ–विवेचन–पादानुक्रमणिका १५०
तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत शास्त्रार्थप्रकरणम्, (व्रजभाषाटीका) साधारण/राजसंस्करण ५०/७०
तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत सर्वनिर्णयप्रकरणम् (व्रजभाषाटीका) साधारण/राजसंस्करण ८०/१००

श्रीभागवतमहापुराण(गुर्जरभाषानुवाद) अनु : गो.वा.श्रीकल्याणजी कानजी शास्त्री ५००

श्रीमद्भगवद्गीता, गुर्जरभाषानुवाद, अनुवादक: गो.वा.श्रीनानुलाल गांधी
श्लोकार्थ-विवेचन-पादानुक्रमणिका. गीतातात्पर्य-न्यासादेशविवरण सहित ५०

विवेकत्रयम्, प्रपञ्च-जीव-मूलरूप (संस्कृत) १०

गृहसेवा और व्रजलीला(व्रजभाषा)व्याख्यात: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क

गृहसेवा अने व्रजलीला(गुजराती)व्याख्यात: गो.श्रीश्याम मनोहरजी अप्राप्य

सेवा[हिन्दी] (ऋतु-उत्सव-मनोरथ) व्याख्याता: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क

सेवा[गुज.] (ऋतु-उत्सव-मनोरथ) व्याख्याता: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क

पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद, व्याख्यात: गो.श्रीश्याम मनोहरजी(गुजराती) अप्राप्य

श्रीकृष्णचरित्र (दशमस्कन्ध गुर्जरभाषा-भावानुवाद) अनु : गो.वा.श्रीनानुलाल गांधी अप्राप्य

रसदृष्टिनी तरफेणमां(गुजराती), लेखक : गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क

सिद्धान्तनुं आचमन, प्रश्नोत्तर (गुज.) उत्तरदाता: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क

ब्रह्मवाद (हिन्दी) लेखक: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क

सेवाकौमुदी[(हिन्दी)],विषय: नवधाभक्ति, लेखक: श्रीलालूभट्टजी. व्याख्याता:गो.श्रीश्या.म. अप्राप्य

भक्तिवर्धिनी(गुज.), व्याख्याता: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क

षोडशग्रन्थगत उपदेशो अने तेमनी २८ वार्ताओ, लेखक: श्रीभूपेन्द्र भाटीया अप्राप्य

षोडशग्रन्थगतउपदेशोअनेतेमनी६४वार्ताओ,लेखक:श्रीभूपेन्द्रभाटीया अप्राप्य

कृष्णाश्रय, श्रीकल्याणरायजी विरचित संस्कृत टीकानो गुजराती अनुवाद अप्राप्य

जिन श्रीवल्लभरूप न जान्यो (गुजराती) गो.श्रीश्याम मनोहरजी लिखित श्रीवल्लभ
महाप्रभुस्तोत्राणि ग्रन्थकी विस्तृत हिन्दी भूमिकाका गुर्जरभाषानुवाद तथा सौंदर्यपद्य,
सर्वोत्तमस्तोत्र, वल्लभाष्टक, स्फुरत्कृष्णप्रेमामृत, श्रीहरिरायचरण रचित श्रीवल्लभस्तोत्र,
पंचश्लोकी, शिक्षाश्लोकी आदि ग्रन्थोंकी टीकाओंका गुजराती अनुवाद. ७०

पुरुषोत्तमग्रन्थावली-५(द्रव्यशुद्धि-व्रतोत्सवनिर्णय-अपराधनिरूपण)(संस्कृत-गुज.-हिन्दी) १००

पुरुषोत्तमग्रन्थावली-६(उपनिषद्-गीताविवृति) संस्कृत २००

श्रीभागवत तृतीयस्कन्ध सुबोधिनी प्रथम खंड (अध्याय १-१९) संस्कृत २००

इतिहास

श्रीगोपीनाथप्रभुचरण, जीवनचरित्र-ग्रन्थ-हस्ताक्षर (गुज.-हिन्दी) २५

आधुनिक न्यायप्रणाली अने पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणालीनो आपसी टकराव[गुज.],
लेखक: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क

आधुनिक न्यायप्रणाली और पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणालीका आपसी टकराव[हिन्दी.],
लेखक: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क

श्रीभागवतसुबोधिनीका गो.वा.श्रीनानुलाल गांधी कृत गुर्जरभाषानुवाद

प्रथमस्कन्ध	१००	द्वितीयस्कन्ध	१००
तृतीयस्कन्ध (१-२)	४००	दशमस्कन्ध(जन्मप्रकरण)	१५०

चित्र

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य	निःशुल्क	श्रीगोपीनाथप्रभुचरण	निःशुल्क

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य-श्रीगोपीनाथप्रभुचरण-श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरण निःशुल्क

गोशाला : मांडवी-कच्छ में प्राकृतिक वातावरणमें गोपाल गोशाला.

जीर्णोद्धार : तृतीय लालजी श्रीबालकृष्णजीके बैठकजी, गाम : विंजाण-कच्छ

।। श्रीवल्लभाचार्य विद्यापीठ ।।

। संस्कृत, शास्त्र और सम्प्रदाय के अध्ययनके लिए समर्पित पुष्टिमार्गीय केन्द्र ।

अध्ययनोपयोगी ग्रन्थालय, अध्ययनकक्ष, निवास, भोजन, अध्यापक आदि अत्यावश्यक सुविधाओंसे सुसज्ज.

पता : २६, श्रीवल्लभाचार्य नगर, रेफरल् होस्पिटल्के पीछे, हालोल, जि.पंचमहाल, गुजरात-३८९३५०. फोन : 02676-225171

व्होट्स्एप द्वारा श्रीवल्लभाचार्य विद्यापीठ तथा पुष्टिमार्ग सम्बन्धी महात्वपूर्ण जानकारीयां प्राप्त करनेकेलिए सम्पर्क करें : विद्यापीठ : 02676-225171

http://www.vallabhacharyavidyapeeth.org/
http://www.pushtimarg.net/

टेलि कोन्फरन्स्-पुष्टिस्वाध्याय : सप्ताहके प्रायः सभी दिन आबाल-वृद्ध सभी पुष्टिमार्गीओं केलिये सम्प्रदायके मूल ग्रन्थोंका अध्यापन विद्वान् आचार्यवंशजों द्वारा टेलिफोनिक कोन्फरन्स् के माध्यमसे होता है. **सम्पर्क:** विद्यापीठ : 02676-225171, नीरजभाई(यु.एस्.ए.):+7325424165. gosharad@rediffmail.com

Subscribe us on You Tube **'Pushtiswadhyay'**

Like our page on Facebook : Sri Vallabhacharya Vidyapeeth

Pushti-Vidya **'पुष्टिविद्या' मोबाईल् एप्लिकेशन् :** आधुनिक संसाधनों का उपयोग करने वाले पुष्टिमार्गी तथा पुष्टिमार्गमें रुचि रखनेवाले जिज्ञासु जनोंको पुष्टिमार्गका यथार्थ परिचय करानेके उद्देश्य से प्रस्तावित की गई है। इसमें पुष्टिमार्गीय टीप्पणी (कैलेंडर), उत्सवोंका परिचय, सिद्धान्तसूक्तियाँ, कीर्तन, प्रवचन, ग्रंथों का अध्यापन, सिद्धांत सम्मत प्रणालीसे आयोजित होते कार्योंकी जानकारी, टेलीफोनिक कॉन्फरेन्ससे होते नित्य पुष्टिस्वाध्याय की जानकारी, उनकी रेकॉर्डिंगक तथा उनकी लिंक आदि विषय इस एप्लिकेशनमें क्रमिक रूपसे उपलब्ध कराये जायेंगे।

गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजीद्वारा सम्पादित-पुनर्मुद्रित

शुद्धाद्वैत पुष्टिभक्ति सम्प्रदायके मूल संस्कृत ग्रन्थ

१. सव्याख्यषोडशग्रन्थ संयुक्तप्रकाशन, दुर्लभ

खंड १. श्रीयमुनाष्टकम् से सिद्धान्तरहस्यम्

खंड २. नवरत्नम् से भक्तिवर्धिनी

खंड ३. जलभेदः से सेवाफलम्

ष. प्रकाश-रश्मि सहित ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम्

खंड १. प्रथमाध्याय नाथद्वारा टेम्पलबोर्ड, अतिदुर्लभ

खंड २. प्रथमाध्याय नाथद्वारा टेम्पलबोर्ड, अतिदुर्लभ

खंड ३. द्वितीयाध्याय

खंड ४. तृतीयाध्याय

खंड ५. चतुर्थाध्याय

३. श्रीमद्भागवतसुबोधिनी

खंड १. प्रथम (प्रथम खंड. अध्याय १-८)

तृतीयस्कन्ध (दो खंड) श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट(मांडवी) द्वारा प्रकाशित.

खंड ४. जन्मप्रकरण

खंड ५. तामसप्रमाणप्रकरण

खंड ६. तामसप्रमेय-साधनप्रकरण

खंड ७. तामसफलप्रकरण

खंड ८. राजसप्रमाण-प्रमेयप्रकरण

खंड ९. राजससाधन-फलप्रकरण

खंड १०. सात्त्विकप्रमेयसाधनफलप्रकरण

खंड ११. गुणप्रकरण तथा यावत्प्राप्य एकादशस्कन्ध

४. तत्त्वार्थदीपनिबन्ध

खंड १. शास्त्रार्थ-सर्वनिर्णयप्रकरण

खंड २. भागवतार्थप्रकरण स्कन्ध १-५

खंड ३. भागवतार्थप्रकरण स्कन्ध ६-१ष

५. सव्याख्यषड्ग्रन्थाः संयुक्तप्रकाशन, दुलर्भ

६. वेदान्ताधिकरणमाला-भावप्रकाशिका

७. विविधविवरणोपेत पत्रावलम्बनम्

८. प्रस्थानरत्नाकर

९. विद्वन्मण्डनम्

१०. श्रीबालकृष्णग्रन्थावली

११. श्रीवल्लभमहाप्रभुस्तोत्राणि

१२. श्रीपुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकार (हिन्दी-गुजराती)

१३. वल्लभाख्यान (सप्तटीकोपेत) (हिन्दी)

१४. पुष्टिविधानम् [गुजरातीपाठाली, व्रज तथा संस्कृत संस्करण]

१५. वादावली

ब्रह्मवाद, वादकथा, विग्रहवाद, प्रपंचवाद, प्रपंचसंसारभेदवाद, ब्रह्मजीवतदैक्यस्वरूपनिरूपणम्, विरुद्धधर्माश्रयत्वविवेचनम्, आत्मवादः, प्रश्नोत्तरसाहस्रीपर्यालोचनम्, प्रश्नोत्तरसाहस्रीचर्चित-प्रकृत्यधिकरण-समालोचनम्, केवलाद्वैतवादाभिमताविद्यास्वरूपविमर्शः, अक्षरपुरुषोत्तम-द्वैतनिरासवादः

१६. अवतारवादावली

खंड २. भेदाभेदवाद,सृष्टिभेदवाद,आविर्भावतिरोभाववाद,ख्यातिवाद,प्रतिबिम्बवाद, अन्धकारवाद.

खंड ३. ब्राह्मणत्वादिदेवतावादः, जीवव्यापकत्वखण्डनवाद, जीवप्रतिबिम्बत्व-खण्डनवादः, भागवतस्वरूपविषयकशंकानिरासवादः,उपदेशादिविषयकशंकानिरासवादः,भगवत्प्रतिकृत-पूजनवादः, ऊर्ध्वपुण्ड्रधारणवादः, तुलसीमालाधारणवादः, शंखचक्रधारणवादः, भक्तिरसत्ववादः, भक्त्युत्कर्षवादः, नामफलादिप्रकारवादः, जयश्रीकृष्णोच्चारणवादः, स्ववृत्तिवाद :, वस्त्रादिसेवावादः, मूर्तिपूजनवादः, भागवतपाठादेः शंकानिरासवादः.

१७. सत्सिद्धान्तमार्तण्डः. भारतमार्तण्ड-पञ्चनदी श्रीगोवर्धन(गट्टूलाल)शर्मा विरचित.

१८. वेदान्तचिन्तामणी. भारतमार्तण्ड-पञ्चनदी श्रीगोवर्धन(गट्टूलाल)शर्मा विरचित.

१९. प्राभञ्जन-मारुतशक्ति. भारतमार्तण्ड-पञ्चनदी श्रीगोवर्धन(गट्टूलाल)शर्मा विरचित.

२०. श्रीमत्प्रभुचरणकृतग्रन्थाः.

२१. श्रीमत्प्रभुचरणकृताः स्तोत्रवज्ञप्तयः.

२२. श्रीमद्भगवद्गीताध्यायप्रतिपाद्यसंक्षेप. लेखक : गो.श्या.म.

२३. लघुग्रन्थसंग्रह १-२. लेखक : गो.श्या.म.

४क्र.१, ष तथा ४/१, ४/ष को छोड कर सभी ग्रन्थ श्रीवल्लविद्यापीठ-श्रीविट्ठलेश्वर-प्रभुचरण आ.हो.ट्रस्ट (कोल्हापुर) द्वारा प्रकाशित.

२४. वाल्लभवेदान्त निबन्धसंग्रह (हिन्दी)
२५. पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद (गुजराती)
२६. विवेक (हिन्दी-गुजराती)
२७. विशोधनिका (चार खंड) (गुज-हिन्दी)
२८. पुरुषोत्तमयोग (गुजराती-हिन्दी)
२९. नवरत्नम् (गुजराती)
३०. नवरत्नोपदेशका मानस विश्लेषण (हिन्दी-गुजराती)
३१. श्रीयमुनाष्टकम् (हिन्दी-गुजराती)
३२. सिद्धान्तनुं आचमन (गुजराती)
३३. सिद्धान्तसूक्ति (गुजराती)
३४. भगवद्गीतासु भक्तियोग (हिन्दी-गुजराती)
३५. पुरुषार्थव्यवस्था (हिन्दी-गुजराती-अंग्रेजी)
३६. चतुःश्लोकी(हिन्दी)
३७. रसदृष्टिनी तरफेणमां(हिन्दी-गुजराती)
३८. गृहसेवा और व्रजलीला(गुजराती-हिन्दी)
३९. सेवा : ऋतु-उत्सव-मनोरथ (हिन्दी-गुजराती)
४०. ब्रह्मवाद (वादावली सम्पादकीय)
४१. सेवाकौमुदी/नवधाभक्ति (हिन्दी)
४२. चिरकुट चर्चा समीक्षा (हिन्दी-गुज)
४३. पुष्टिमार्गीय पीठाधीश स्वरूप और कर्तव्य
४४. अणुभाष्य(साधनफलाध्याय) भूमिका (गुज.)
४५. श्रीवल्लभाचार्यके दर्शनका यथार्थ स्वरूप

४६. शरणागतिविचारगोष्ठी एक पूरक प्रश्नोत्तरी (गुजराती)
४७. धर्म-अर्थ-काम-मोक्षकी पुष्टिमार्गीय विवेचना(हिन्दी-गुजराती)
४८. भगवत्सेवानो सिद्धान्तशुद्ध प्रकार: एक प्रश्नोत्तरी (गुजराती)
४९. साकारब्रह्मवाद (तत्त्वचिन्तन भक्ति और संस्कृति विमर्श) (हिन्दी)
५०. तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत शास्त्रार्थप्रकरणोपक्रम(गुज.)
५१. तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत संक्षिप्त शास्त्रार्थ-सर्वनिर्णयप्रकरण तथा विवेकधैर्याश्रय, नवरत्न, सिद्धान्तमुक्तावली एवं भक्तिवर्धिनी का गुजराती अनुवाद-विवेचन(गुज.)
५२. वार्तान्की सैद्धान्तिक संगति (वार्ता : गदाधरदास-महावनकी क्षत्राणी-दिनकरदास शेठ-दिनकरदास मुकुंददास)
५३. श्रीदामोदरदासजी-श्रीकृष्णदास मेघनजी : वार्ताविवेचना. (हिन्दी-गुजराती)
५४. श्रीवल्लभाख्यान : श्रीमद्भागवतको प्रारूप और श्रीवल्लभाख्यान
५५. सूक्तित्रय : सिद्धान्त, उत्सव, भक्ति.
५६. वचनामृतत्रय (श्रीमन्महाप्रभुश्रीवल्लभवचनामृत, श्रीमद्प्रभुचरण-गोस्वामि-विट्ठलनाथ-वचनामृत, श्रीवल्लभ(श्रीगोकुलनाथ)वचनामृत)
५७. पुष्टिभक्तिका व्यापारीकरण (कुशंका, खिलवाड-समाधान)
५८. ब्राह्मिक याथार्थ्य और ब्रह्मवाद की नानावादानुरोधिता (लघुग्रन्थसंग्रह-२)
५९. पुष्टिमार्गकी आचार्यत्रयी
६०. अमृतका आचमन
६१. कृष्णएव तात्पर्यम्
६२. अहंकारमीमांसा १,२ (हिन्दी-गुजराती)
६३. मूलाचार्यवाणी (सुबोधिनी तथा अणुभाष्य)
६४. षोडशग्रन्थ परिचय
६५. भक्तिवर्धिनी (सूक्तिसंकलन)
६६. आधुनिक न्यायप्रणाली एवं पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणलीका आपसी टकराव (हिन्दी-गुजराती)
६७. सिद्धान्तवचनावली
६८. अणुभाष्य (संक्षिप्त अनुक्रमणिका)
६९. पुष्टिमार्गीय स्वयंशिक्षक
७०. जिन श्रीवल्लभरूप न जान्यो
७१. आत्मकथा : श्रीकृष्णस्वरूपानन्द सरस्वतीनी.
७२. जयन्त कागना अनेक जन्मोनी कथा (लघु नाटक)
७३. श्रीमद् भागवत पूजन (गुजराती)
७४. शिक्षाश्लोका (गुजराती)
७५. भक्तिवर्धिनी (पीपरीया)(गुजराती)
७६. गोपीगीत सुबोधिनी (सविवरण)
७७. नलकूबेरमणिग्रीवकृतस्तुति(सविवरण)
७७. भक्तिरस
७८. वार्तान्कीसैद्धान्तिक संगति : राणाव्यास
७९. सुबोधिन्या (प्रथम स्कन्ध, तृतीय स्कन्ध)

सम्पर्क : गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी, व्रजकमल, ६३ स्वस्तिक सोसायटी,
४ था रास्ता, जुहु स्कीम, विलेपार्ले(पश्चिम) मुम्बई-**५६**
विडियो/ओडियो प्रवचन और उपरोक्त प्राप्य ग्रंथो के लिये संपर्क करे : पुष्टि अस्मिता संवर्धन केन्द्र,
२१४, अमरदिप कोम्पलेक्ष, २-रजपुतपरा, राजकोट-१. मो. ९४२७४ ९५१५९

आमुख

भगवद्रूपसेवार्था पुष्टिसृष्टिर्हि सर्वथा॥
ऋतं कर्तुं निजाचार्योक्तिं यः प्रादुर्बभूव श्री- ॥१॥
बालकृष्णगृहे सेव्यबालकृष्णापहारकः॥
कृष्णसेवां विना स्थातुमशक्तः पुष्टिशक्तिमान्॥२॥
चकार कलहं दिव्यं प्रभुरत्यनुभावकम्॥
वाक्पतेर्वाणीव्याख्याता तत्सुतयोर्हि भक्तिमान्॥३॥
पुरुषोत्तमपितृव्यो दिव्यतापीतटे स्थितः॥
श्रीश्यामलसुतः श्रीमान् व्रजरायो विराजते॥४॥

श्रीवल्लभवंशवृक्षके अनुसार तृतीय/२गृह : सूरतके श्रीव्रजरायजीका जन्म [१]श्रीवल्लभाचार्य महाप्रभुसे [२]श्रीविठ्ठलनाथ प्रभुचरणके तृतीयात्मज [३]बालकृष्णजीके चतुर्थ पुत्र [४]श्रीपीताम्बरजीके ज्येष्ठात्मज [५]श्यामलजीके [६]ज्येष्ठपुत्रतया छठी पीढ़ीमें विक्रम संवत् : १६८२में माघकृष्णा द्वितीयाके दिन हुवा.

महाप्रभुके बाद अड़ैल गढ़ा मथुरा गोकुल में क्रमशः स्थलान्तरित होते परिवारके निजगृहोंमें, श्रीविठ्ठलनाथजीद्वारा अपने अग्रज श्रीगोपीनाथजीको लिखे पत्रके अनुसार, प्रमुखतया सेव्य भगवद्विग्रहोंका विवरण इस तरह मिलता है : सर्वप्रथम पहले गज्जनधावनके सेव्य [१]श्रीनवनीतप्रिय, पद्मनाभदासजीके सेव्य [२]श्रीमथुरानाथजी, दामोदरदास संभलवालाके सेव्य [३]श्रीद्वारकानाथजी, महाप्रभुको अपने श्वसुरसे मिले [४]श्रीगोकुलनाथ(गोवर्धनधर), मराठी ब्राह्मणद्वारा महाप्रभुको पधराये गये [५]श्रीविठ्ठलनाथजी, तथा पूर्वज श्रीयज्ञनारायण भट्टजीके आराध्य [६]श्रीमदनमोहनजी इतने छह ही थे.

अभी नारायणदास ब्रह्मचारीके श्रीगोकुलचन्द्रमाजी लौटकर वापिस वल्लभगृहमें नहीं पधारे थे. वे इस पत्रलेखनकालके बादमें कभी पधारे, यह मूलपुरुष तथा भावना ग्रन्थोंके लेखक श्रीद्वारकेशजीके (पंचमगृह : वि.सं.१७५१) **"श्रीगिरिधरवर जिनहीं छबीलो, श्रीनवनीतप्रिय अरविलो, प्रिय श्रीमथुरेश श्रीविट्ठलेश श्रीद्वारकेशजु श्रीगोवर्धनधर, श्रीगोकुलचन्द्रमा=मधुरेशजु, श्रीमदनमोहन अष्ट यह विध रमण श्रीविट्ठलनाथके, तातको चित्त जानि सेवा विस्तरी सब साथके"** (मूलपुरु.१९)की स्वीकृतिके आधारपर समझा जा सकता है. सो प्रभुचरणने अपनी विद्यमानतामें अपने घरमें बिराजमान भगवद्विग्रहोंको अपने पुत्र-पुत्रियोंके बीच जब पृथक्-पृथक् पधराना चाहा तब महाप्रभुसेवित छह भगवत्स्वरूप और दो स्वयं प्रभुचरणसेवित घरमें प्रमुखतया बिराजमान थे. यह प्रसिद्ध प्रातःस्मरणश्लोक "महाप्रभुसेव्य**श्रीगोवर्धननाथपादयुगलं हैयंगवीनप्रियं नित्यं श्रीमथुराधिपं सुखकरं श्रीविट्ठलेशं मुदा श्रीमद्द्वारवतीशगोकुलपती श्रीगोकुलेन्दुं विभुं श्रीमन्मन्मथमोहनं** प्रभुचरणसेव्य**नटवरं श्रीबालकृष्णं भजेत्**" के अन्तमें योजित दोनों नामोंके आधारपर भी पत्रमें अनुल्लेखकी तरह ही परवर्ती कालमें प्रभुचरणद्वारा पुष्ट किये जानेकी गवाही देता है. इस विभाजनमें श्रीनवनीतप्रियजी स्वयं प्रभुचरणने अपने पास रख कर उक्त श्रीमथुरानाथजी और स्वसेवित श्रीनटवरलालजी ज्येष्ठात्मज श्रीगिरिधरजीके मांथे पधराये. तथा पूर्वोक्त श्रीद्वारकानाथजी तथा अपने बाल्यकालके एक श्रीबालकृष्णजी, षष्ठात्मज श्रीयदुनाथजीको पधराना चाहते थे परन्तु उनके अस्वीकार करनेपर अपने तृतीय आत्मज श्रीबालकृष्णजीके मांथे पधराये.

श्रीव्रजरायजी, जैसा कि ऊपर हम कह चुके, इन्हीं तृतीयात्मजके प्रपौत्र थे. इन्होंने मुग़ल शहंशाह औरंगज़ेबका फरमान हासिल कर लिया था कि अपने प्रपितामहके सेव्यस्वरूप ज्येष्ठसंततिके अभावमें उत्तराधिकारतया इन्हें मिलने चाहिये. परन्तु इनकी भाभीने देवरको उत्तराधिकारी

चुननेके बजाय अपने भतीजेका जब चुनाव किया तो तब इन्होंने श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरणसेवित दूसरे श्रीबालकृष्णलालजीका स्वरूप प्राप्त करनेका बादशाही फरमान पा कर तथा निर्वंश होनेके शापको भी स्वीकार कर पधरा ही लिया. यह महाप्रभुके वचन **"भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिः नान्यथा भवेत्"** (पु.प्र.म.१२) का एक दिव्य महानुभाव था. अतः इनका वंश आगे न चल पानेसे इन्होंने भी अपने चचेरे भाई श्रीपीताम्बरजीके पुत्र श्रीपुरुषोत्तमजीको अपना उत्तराधिकारी बनाया.

श्रीपुरुषोत्तमजीके तो सभी ग्रन्थोंका तो पुरुषोत्तमग्रन्थावलीके रूपमें प्रकाशन हो ही गया है. इनके धर्मपिता श्रीव्रजरायजीके उपलभ्यमान ग्रन्थोंको भी प्रकाशित करनेका मनोरथ प्राचीन ग्रन्थोंके सम्पादन-प्रकाशनमें मेरे सहयोगी श्रीअसित शाहको हुवा. यह प्रकाशन उसी मनोरथका साकार रूप है. सारा परिश्रम प्रिय असित शाहका ही है, सो वह अतीव धन्यवादार्ह मुझे लगता है.

साकारब्रह्मवादावलम्बित पुष्टिमार्गमें भगवत्सेवाके सैद्धान्तिक मौलिक स्वरूप तथा उसके अंगभूत सेवाके स्वरूपलक्षण साधनलक्षण अवान्तरफललक्षण तथा फललक्षण, सेव्यस्वरूप सेवकस्वरूप सेवार्थसहयोगी सेवौपयिक गृह-वित्तादि इत्यादि अनेक पक्षोंकी सुविशद विवेचना तत्त्वार्थदीपनिबन्ध भागवतसुबोधिनी ब्रह्मसूत्राणुभाष्य तथा १६ प्रकरण ग्रन्थों में तो स्पष्ट कर ही रख्खी थी. फिरभी नित्यसेवा ऋतुसेवा उत्सवसेवा और मनोरथसेवा रूपी अवान्तर विषयोंकी इतिकर्तव्यता तो महाप्रभुके उभयात्मजों श्रीगोपीनाथजी तथा श्रीविट्ठलनाथजी ने **"पितृप्रवर्तितपथप्रचारसुविचारकः"** (नाम.र.स्तो.-१२) ने ही साधनदीपिका सेवाभावनाश्लोकाः ग्रन्थोंमें सुनिर्धारित की थी. यह दोनों भ्राताओं द्वारा विरचित नित्यसेवोपदेशक श्लोकोंके अवगाहन करनेसे स्पष्ट होता है. तीसरी पीढ़ीके बाद चौथी तथा पांचवी पीढ़ीसे

अवशिष्ट स्वरूपोंको भी ग्रन्थबद्ध करनेका उपक्रम शुरु हुवा. जिसमें श्रीहरिरायकृत विपुल साहित्य तो अतीव महत्त्वपूर्ण है. साथ ही साथ श्रीद्वारकेशजीके अलावा यहां पुनःप्रकाशित होने जा रही श्रीश्यामलसुत-श्रीव्रजरायजीकी संवत्सरोत्सवकल्पलताका भी महत्त्व निश्चित ही अनूठा है.

इस संकलनमें सभी ग्रन्थ पहलेसे ही अन्यान्य सम्पादक-प्रकाशकों द्वारा मुद्रित-प्रकाशित हैं. ग्रन्थोंके इन पूर्वप्रकाशकों प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञताके स्वीकारके साथ हमारे द्वारा प्रस्तुत नूतन संकलन केवल पुनःप्रकाशन है. इसमें उद्धृत वचनोंके आकरस्थलोंके खोजनेका सघन परिश्रम श्रीअनिल भाटिया, श्रीमती पद्मिनी-श्रीधर्मेन्द्र झाला, श्रीमती मनीषा-श्रीपरेश शाह तथा श्रीराजेश परीख ने किया है. तथा उद्धृत वचनोंकी अकारादिक्रमसे अनुक्रमणिका तैयार करनेका श्रेय श्रीजगदीश शेठ को जाता है. इसी तरह मुद्रणोपयोगी सारा उत्तरदायित्व श्रीप्रविण डढाणिया और उनके अथक सहयोगी श्रीपीयूष गोंधिया ने सम्हाला. ग्रन्थकार श्रीव्रजरायजीका चित्र गोस्वामी श्रीगोपेशकुमारजी (सूरत) के सौजन्यसे प्रकाशित कर रहे हैं. इस चित्रके आधारपर आवरकचित्र श्रीमती ख्याति भुल्लाने तैयार किया. इन सभीके प्रति हम हार्दिक कृतज्ञतापूर्वक साधुवाद प्रदान करते हैं.

गोस्वामी श्याम मनोहर

(वसन्तपञ्चमी : वि.सं.२०७८)

अनुक्रमणिका

ग्रन्थानाम्	पृष्ठानाम्
१.वल्लभाष्टकटीका	१-११.
२.अन्तःकरणप्रबोधटीका	१२-२१.
३.विवेकधैर्याश्रयटीका	२२-४६.
४.कृष्णाश्रयटीका	४७-७०.
५.चतुःश्लोकीटीका	७१-८३.
६.निरोधलक्षणटीका	८४-९८.
७.संवत्सरोत्सवकल्पलता	९९-१३३.
८.श्रीभागवतदशमस्कन्धत्रिचत्वारिंशाध्यायसुबोधिनीटीका	१३४-१५९.
९.उद्धरणतालिका	१६०-१७०.
१०.उद्धृतग्रन्थसंकेततालिका.	१७१-१७४

॥ श्रीवल्लभाष्टकटीका ॥

(श्रीव्रजरायकृता टीका इति प्रवादः)

श्रीमद्-वृन्दावनेन्दु-प्रकटित-रसिकानन्द-सन्दोहरूप-
स्फूर्जद्रासादिलीलामृतजलधिभराक्रान्तसर्वोऽपि शश्वत् ॥
तस्यैवात्मानुभावप्रकटनहृदयस्याज्ञया प्रादुरासीद्
भूमौ यः सन्मनुष्याकृतिरतिकरुणस्तं प्रपद्ये हुताशम् ॥१॥

पुष्टि-सृष्टि-प्रवृत्त्यर्थं प्रादुर्भूतोऽस्ति यः प्रभुः ॥
तत्स्वरूपाप्तये नित्यं वन्दे श्रीवल्लभात्मजम् ॥१॥

श्रीमद्विठ्ठलेश्वरचरणाः स्वीयेषु करुणया स्वाचार्यस्वरूपज्ञापनार्थं तत्प्रकटितमार्गप्रापक-तत्स्वरूपनिरूपकाष्टकं प्रकटयन्ति. तत्र श्लोकाष्टकेन निरूपणं धर्मिधर्मस्वरूपनिरूपणेनेति पूर्वं धर्मिस्वरूपं पद्यद्वयेन आहुः द्विदलरसरूपेण **श्रीमद्** इति. **यः भूमौ सन्मनुष्याकृतिः प्रादुरासीत् तं हुताशं प्रपद्ये** इति सन्बन्धः. तत्प्राकट्यस्य दुर्लभत्वेन विशेषयन्ति विशेषणेन **शश्वद्** निरन्तरम्. **श्रीमान्** अलौकिकभगवद्रमणैकंशोभावान् यो **वृन्दावनेन्दुः** वृन्दा स्त्री, तद्वनस्य इन्दुः = स्त्रीसुखात्मकः तेन **प्रकटितो** यो **रसिकस्य** भगवतो अर्थे **आनन्दसन्दोहः** सारः तद्रूपो यः **स्फूर्जन्** अतिशोभितो यो **रासादिलीलात्मको अमृतजलधिः** तत्र **भरो** येषाम् अलौकिकानां भावरूपजीवानां तैः **आक्रान्तं** सर्वतः सेव्यमानं **सर्वं** स्वरूपं यस्य सः. तादृशोऽपि **यो भूमौ प्रादुरासीत् तं प्रपद्ये. अपि**शब्देन स्वनिवेदितजीवभाव-रूपसेवाद्यनपेक्षित्वं ज्ञाप्यते, यतः तल्लीलास्थभक्ताक्रान्तत्वात् तैरेव तत्सम्भवात्. ननु एवं चेत्

तदा प्राकट्यं किम्प्रयोजनकम्? इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **तस्यैव** इति. **तस्यैव** भगवतः इन्दोः वा **आत्मानुभावप्रकटनहृदयस्य** आत्मनः = श्रीमदाचार्याणाम् अनुभावो = निवेदनमन्त्रार्थाधिदैविकशक्तिरूप-स्वात्माप्रवेशेन रमणरूपः तत्प्रकटनार्थहृदयस्य **आज्ञया** रसरूपया तथा इति अर्थः. ननु भगवति स्वानुभावप्राकट्यं चेत् तदा वृन्दावनएव कथं न प्रकटीकृतवान्? भूमौ प्रादुर्भावे किं प्रयोजनम् इति आशङ्क्य आहुः **अतिकरुणः** इति. करुणत्वेन जीवेषु स्वरूपरसदानेच्छया तथा कृतवान्. करुणत्वमेव प्रकटयन्ति **हुताशम्** इति विशेषणेन. **हुतं** लौकिकस्वरूपम् **अश्नाति** भस्मीकरोति इति भावः. कात्यायन्याधिदैविकम् इति भावः. **हुतम्** अलौकिकस्वरूपं विप्रयोगाग्नौ तत्तापरूपत्वात् स्वयमेव **अश्नाति** भोगं करोति इति भावः. एतेन गुणातीतस्त्रीभावात्मक-स्त्रीभावकरेणुरूपम् इति भावः. **तम्** अहं शरणं **प्रपद्ये** (इति) स्वस्य तच्छरणगमनोक्त्या पाठकर्तॄणां शरणगमनं व्यज्यते. तेन एतादृशस्वरूपं ज्ञात्वा शरणीयः इति ज्ञापितम्. **सन्मनुष्याकृतिः** इति, सात्त्विकभावापन्नः सदात्मकमनुष्यः पुरुषोत्तमः तद्वद् आकृतिः यस्य इति अर्थः. यद्वा **यो भूमौ सन्मुष्याकृतिः प्रादुरासीत्** पुरुषोत्तमः **तस्यैव आत्मानुभावस्य** रसात्मकस्य स्वाचार्यरमणात्मकस्य **प्रकटनार्थहृदयस्य हुताशं** तापात्मकं **प्रपद्ये** इति भावः ॥१॥

एवं संयोगरसरूपदलेन पुम्भावात्मकेन धर्मिरूपं निरूप्य द्वितीयरसात्मकदलरूप-स्त्रीभावात्मकधर्मिरूपम् आहुः **नाविर्भूयाद्** इति.

नाविर्भूयाद् भवाँश्चेद् अधिधरणितलं भूतनाथोदितासन्-
मार्गध्वान्ध-तुल्याः निगमपथगतौ दैवसर्गेऽपि जाताः ॥
घोषाधीशं तदेमे कथमपि मनुजाः प्राप्नुयुर् नैव दैवी-
सृष्टिर् व्यर्था च भूयान् निजफलरहिता देव वैश्वानरैषा ॥२॥

हे देव क्रीडारूप! **वैश्वानर** तापात्मक! **भवान्** तापरूपेण **चेत् न आविर्भूयाद् अधिधरणितलं** पृथ्वीम् अधिकृत्य तदा त्रिविधापि **दैवी सृष्टिः वृथा भूयात्. भूतनाथोदिता** जीवनाथो भगवान् तदुक्ता "**दैवी सम्पद् विमोक्षाय**" (भग.गीता १६।५) इत्याद्युक्ताः **देवसर्गेऽपि जाताः मनुजाः** मर्यादादैवाः **कथमपि** अंशांशिभेदेनापि **घोषाधीशं न प्राप्नुयुः** इति अर्थः. याथात्म्येन स्वसेव्यस्वरूपाज्ञानाद् अंशादिषु पुरुषोत्तमभ्रमात् न प्राप्नुयुः. "**यो अन्यथा सन्तम् आत्मानम् अन्यथा प्रतिपद्यते**" (महाभा.५।४२।३५) इति वाक्येन विपरीतमेव स्यात्. **निगमपथगतौ** पुष्टिश्रुतिरूप-व्रजविलासिन्युक्त-मार्गगतौ मार्गप्राप्तौ प्राप्त्यर्थं **देवसर्गे** क्रीडासर्गे **जाताअपि** जीवाः पुष्टिमार्गीयाः **सन्मार्गध्वान्तान्ध-तुल्याः** अन्ये ये असन्मार्गाः तद्रूपो यो अन्धकारः तेन अन्धतुल्याः सन्तो **घोषाधीशं न प्राप्नुयुः**. ननु पुष्टिमार्गीयदैवसृष्ट्युत्पन्नानां कथम् अन्यमार्गमोहः स्याद् इति चेद्, इत्थं : "**स्वागतं वो**" (भाग.पुरा.१०।२९।१८) इत्यारभ्य "**प्रतियात ततो गृहान्**" (भाग.पुरा.१०।२९।२७) इत्यन्तं भगवदुक्तान्यमार्गमोहो भवेत्, तत्तत्सामयिकरसौपयिकत्व-स्थितिपक्षार्थकाज्ञानेन. तदा तासां भाग्येन तथा सम्बन्धो अभूत् परम् एवम् अन्येषां न भविष्यतीति न प्रवृत्तिः भवेद् इति भावः. तदर्थमेव आचार्यैः भगवतो अति"**दुरापत्वेऽपि तदाशया तद्भजनम् अन्यभजनरहितं कुर्वद्भिरेव सर्वैः स्थेयम् इति भक्तिमार्गनिष्कर्षः**" (सुबो.१०।४४।६०) इत्यादि अगादि. प्रभुचरणैरपि विद्वन्मण्डने "**तदाशया तथा चेद् भजनं करोति तदा भगवानपि अङ्गीकरोति**" (विद्व.मंड.नित्यली.-५०) इत्यादि निरूपितम्. **एषा** स्वकीया पुष्टिपुष्टिरूपा **निजफलरहिता** निजफलम् अध्यात्मभावेन सेवाकरणं तद्रहिता **स्यात्. चकारेण** इयं सृष्टिः यदा स्वफलरहिता स्यात् तदा अन्यसृष्टिः स्वफलरहिता स्याद्, व्यर्थापि स्याद् इति व्यज्यते. तत्सृष्टिमध्ये एतत्सृष्टिसङ्कलनेनैव तत्सृष्टेः

सार्थकत्वम्, अन्यथा जीवसम्बन्धरहितदेहसृष्टिः च व्यर्था स्यात्. अत्र **वैश्वानरपदेन** इदं व्यज्यते : यथा भगवता उक्तं "**अहं वैश्वानरो भूत्वा ... पचाम्यन्नं चतुर्विधम्**" (भग.गीता १५।१४) तथा तापात्मको भूत्वा सर्वेषु चतुर्विधपुरुषार्थान् रसरूपान् भोगरूपेण पक्वान् करोषि इति अर्थः. एतादृक्स्वरूपभोगकरणे द्वितीयदलस्यैव शक्तिरिति एतस्मिन् पद्ये द्वितीयदलात्मक-धर्मिनिरूपणम् इति भावः. अतएव अस्मत्प्राणनाथैः निरूपितं "**राधाधरसुधा- पातुः**" इत्यारभ्य "**नामसम्बन्धतो भवेद्**" (सेवाश्लो.१६) इत्यन्तेन पद्येन॥२॥

एवं धर्मिस्वरूपम् उक्त्वा धर्मभावनिरूपणे पूर्वम् ऐश्वर्यं निरूपयन्ति **न ह्यन्यः** इति.

नह्यन्यो वागधीशाच्छ्रुतिगणवचसां भावम् आज्ञातुम् ईष्टे
यस्मात् साध्वी स्वभावं प्रकटयति वधूरग्रतः पत्युरेव॥
तस्माच्छ्रीवल्लभाख्य त्वदुदितवचनाद् अन्यथा रूपयन्ति
भ्रान्ताः ये ते निसर्गत्रिदशरिपुतया केवलान्धन्तमोगाः॥३॥

वागधीशाद् भगवन्मुखारविन्दाद् **अन्यः श्रुतिगणवचसां** व्रजसौभाग्यवतीवाक्यानां **भावम् आसमन्ताद्** अभिप्रायपूर्वकं **ज्ञातुं न ईष्टे** न समर्थो भवति इति अर्थः. कुतः? **यस्मात् साध्वी** पतिव्रता **स्वपत्युरेव अग्रे स्वभावं प्रकटयति** तत्रापि **वधूः** नवोढा इति अर्थः. **तस्मात्** कारणात् '**श्रीवल्लभा**'**ख्य**! **श्री**शब्देन स्वामिनी उच्यते, तद्**वल्लभः** इति **आख्या** नाम यस्य. तेन **वल्लभः** इति तदभिप्रायकमेव **त्वदुदितवचनाद्** तादृशस्य तव उक्तवचनात् तासां भावम् **अन्यथा रूपयन्ति** कथयन्ति **ये भ्रान्ताः ते निसर्गत्रिदशरिपुतया** साहजिकदेवद्वेषभावेन आसुरभावेन **केवलान्धन्तमोगाः** अन्धन्तमसि

गमिष्यन्ति इति अर्थः. यद्वा **त्रिदशरिपुतया** तिस्रो दशा यासां सात्त्विकादिभावेन तासां रिपुतया भगवद्भजनासहिष्णवासुरत्वेन **केवलं नित्यदुःखाः** नित्यदुःखस्वरूपाएव तिष्ठन्ति इति भावः. भगवन्मुखरूपत्वेन ऐश्वर्यता स्पष्टैव. भगवतोऽपि ऐश्वर्यभावो अयमेव यद् व्रजविलासिनी-वचनोक्तन्यायेन सरणम्. श्रीमदाचार्याणामपि तद्वचनभावज्ञत्व-निरूपणेन रसरूपैश्वर्यभावो निरूपितः ॥३॥

एवम् ऐश्वर्यरूपं निरूप्य कीर्तिस्वरूपम् आहुः **प्रादुर्भूतेन** इति.

प्रादुर्भूतेन भूमौ व्रजपतिचरणाम्भोजसेवाख्यवर्त्म-
प्राकट्यं यत् कृतं ते तदुत निजकृते श्रीहुताशेति मन्ये॥
यस्मादस्मिन् स्थितो यत्किमपि कथमपि क्वाप्युपाहर्तुमिच्छ-
त्यद्धा तद् गोपिकेशः स्ववदनकमले चारुहासे करोति॥४॥

प्रादुर्भूतेन भवता **व्रजपतिचरणाम्भोजसेवाख्यवर्त्मप्राकट्यं भूमौ यत् कृतं ते** त्वया **तद् उत** इति निश्चयेन **निजकृते श्रीहुताश! इति** अहं **मन्ये.** कुतः? **यस्माद् अस्मिन् मार्गे स्थितो** जीवो **यत् किमपि** नतु उत्तममेव **कथमपि** भावात्मक-स्वस्वरूपेण भवद्दास्येन वा **क्वापि** वृन्दावने <u>भावात्मक-स्वगृहे</u> वा **उपाहर्तुम्** उप = समीपे आहर्तुं = समर्पितुम् आसमन्तात् स्वकृतार्थतार्थे प्रसादत्वेन ग्रहणार्थं उप समीपएव **इच्छति तद् अद्धा** साक्षाद् **गोपिकेशः स्ववदनकमले चारुहासे** मनोहरहास्यसहिते त्वत्सम्बन्धात् **करोति** भोजनम् इति शेषः. अयं भावो : भगवान् यद् भुङ्क्ते तत् स्वामिनीमुखसम्बन्ध्येव. तस्मात् पूर्वं स्वभोजनात् स्वार्थमेव इति अर्थः. अतएव अस्मत्प्रभुचरणैः समर्पणार्थक-पद्यद्वयेन पुरुषोत्तमत्वं (निरूपितं!) "**भाषणं मा त्यज**" (सेवाश्लो.१५) इत्यारभ्य "**नामसम्बन्धतो भवेद्**" (सेवाश्लो.१६)

इत्यनेन. **व्रजपति**पदेन पुरुषोत्तमत्वं बोध्यते. चरणानाम् अम्भोजत्वोक्त्या तत्सेवात्मकमार्गोक्त्या पुष्टिरूपता मार्गस्य उच्यते, "**न्यस्तं स्तनेषु विजहुः परिरभ्य तापम्**" (भाग.पुरा.१०।४४।६३) इत्युक्तप्रकारेण इति अर्थः. **प्रादुर्भूत**त्वविशेषणेन प्रादुर्भावस्य भगवदर्थकत्वेन मार्गस्य स्वार्थकता भिन्नरूपेण व्यज्यते **वदनकमलो**क्त्या. तच्च रविकरसम्बधादेव उत्फुल्लं सत् स्वरसप्रकाशकं भवति. तथा तापात्मक-भवत्सम्बन्धिसामग्री-भोजनएव प्रभुः प्रसन्नो भूत्वा स्वरसदानं करोति इति व्यज्यते. अतएव **चारुहास**त्वं मुखविशेषणम् उक्तम्. भगवत्कीर्तिः इयमेव यद् भक्तेषु कृपां करोति. इह च सर्वत्र भोजनार्थं मार्गप्राकट्येन तथात्वं, तेन कीर्तिरूपता स्पष्टैव॥४॥

एवं कीर्तिरूपत्वं निरूप्य तापरूपत्वेन निरूपणात् सर्वेषां तथात्वे भक्तैः कथं सेव्यः स्याद्? अग्नित्वनिरूपणेन महादेवरूपत्वं भविष्यति इति शङ्कां निराकुर्वन् यशःस्वरूपं निरूपयन्ति **उष्णत्वैकस्वभाव** इति.

उष्णत्वैक-स्वभावोऽप्यति-शिशिर-वचःपुञ्ज-पीयूष-वृष्टिर्
आर्तेष्वत्युग्रमोहासुरनृषु युगपत् तापमप्यत्र कुर्वन्॥
स्वस्मिन् कृष्णास्यतां त्वं प्रकटयसि च नो भूतदेवत्वम् एतत्
यस्माद् आनन्ददं श्रीव्रजजननिचये नाशकं चासुराग्नेः॥५॥

उष्णत्वमेव तापरूपत्वमेव **एकः स्वभावो** विप्रयोगदलात्मकव्यभिचार(रि!)भावः, एतादृशो **अपि** तत्समयेऽपि **आर्तेषु** भावात्मकदासीभाव-प्राप्त- तत्सामयिकदर्शनजन्य-दुःखभरेण भगवन्मिलनप्रार्थकेषु **अतिशिशिरवचःपुञ्जपीयूषवृष्टीः** तदुक्तप्रकारेण भगवन्मिलनार्थकगमनरूप-शीतलतमवचनानां यः पुञ्जः = समूहएव पीयूषम् = अमृतं, तस्य या

वृष्टीः = सर्वाङ्गसेचनं तद्रूपा इति अर्थः. तथैव **अति** अत्यन्तम् **उग्रो मोहो** येषां तत्सहिताऽऽसुररूपाः ये **नराः** तेषु **तापमपि कुर्वन् अत्र** अस्मिन् मार्गे **युगपदेव** भक्तेषु पीयूषवृष्टिः इतरेषु तापं कुर्वन् **स्वस्मिन् कृष्णास्यतां प्रकटयसि** प्रकटीकरोषि इति अर्थः. **च**कारेण मुख्यं रूपं तद्भावात्मकमेव परं **युगपद्** एतद्धर्मप्राकट्येन भगवन्मुखारविन्द-रूपत्वमपि प्रकटीकरोषि इति व्यज्यते. यद्वा **युगपदेव** स्वरूपं भगवन्मुखरूपं च प्रकटीकरोषि, तेन भावात्मकभक्तानां तादृक्तापदूरीकरणात्मक-स्वस्वरूपं प्रकटयसि, असुरेषु तापकरणेन भगवन्मुखरूपत्वम् इति भावः. महादेवत्वापत्त्याशङ्कायाम् आहुः **नो भूतदेवत्वम्**. भूतदेवत्वोक्त्या तस्य आसुरपोषकत्वम् उक्तम्. एतत्तु तद्विपरीतम् इति आहुः **यस्माद् एतत् श्रीव्रजजननिचये** स्वामिनीसहित-व्रजजनसमूहे **आनन्ददम्**. व्रजजनानां स्वामिनीसहभावोक्त्या तत्सम्बन्धेनैव सर्वत्र आनन्ददानं व्यज्यते. अतएव श्रीमदाचार्यचरणैः "**तद्द्वारा पुरुषे भवेद्**" (सुबो.१०।२६।०।-का.२) इति निरूपितम्. **असुराग्नेः च नाशकम्**. भगवन्मुखस्यैव एतद्धर्मद्वयं यद् मुखारविन्देन व्रजजनानन्ददानं दावाग्न्यादिपानं च, न महादेवस्य. तेन तद्धर्मप्राकट्येन **कृष्णास्यताम्** एव **प्रकटयसि** इति अर्थः. भगवतः इदमेव यशो यद् भक्तेषु आनन्ददानेन पोषणं, तदितराणां नाशकत्वम्. इहापि तथात्वेन यशोरूपत्वम् इति भावः ॥५॥

एवं यशोरूपं निरूप्य श्रीरूपम् आहुः **आम्नायोक्तम्** इति.

आम्नायोक्तं यद् अम्भोभवनम् अनलतस्तच्च सत्यं विभो यत्
सर्गादौ भूतरूपाद् अभवद् अनलतः पुष्करं भूतरूपम् ॥
आनन्दैकस्वरूपात् त्वदधिभु यदभूत् कृष्णसेवारसाब्धिः
आनन्दैकस्वरूपस्तदखिलम् उचितं हेतुसाम्यं हि कार्ये ॥६॥

अनलतः अग्नेः **अम्भोभवनं** जलोत्पत्तिं **यद् आम्नायोक्तं तत् सत्यं, यस्मात् सर्गादौ** सृष्ट्यारम्भे **भूतरूपाद् अनलतः** महाभूताग्नितो भूतरूपमेव **पुष्करं** जलम् अभवत्. **ता** च साधारणसृष्टिः चेद् अलौकिके तथा न भवेत् तदा श्रुत्युक्तम् अन्यथा स्यात्. तद् अग्रे **विभो!** तत्सत्यकरणसमर्थ! **आनन्दैकस्वरूपात् त्वत्** त्वत्तः **अधिभु** भुवनम् अधिकृत्य यत् **कृष्णसेवारसाब्धिः अभूत् तत्** तस्माद् रसाब्धेः **आनन्दैकस्वरूपम् अखिलं** जगद् **अभूत् तत् कार्ये हेतुसाम्यं** कारणसाम्यम् **उचितं हि** इति युक्तत्वज्ञापनाय. तापात्मकात् सेवारसाब्धिप्राकट्योक्त्या सेवात्मकमार्गप्राकट्यं यत् तत् तापस्य यत्किञ्चित् स्वास्थ्यार्थं कृतम् इति व्यज्यते. तदनन्तरम् आनन्दैकरूपता च प्रभोः आनन्दमयत्वादेव. तस्माद् एतन्मार्गीयैः सेवा च एवमेव कर्तव्या. रसाब्धौ शयानस्य प्रभोः सेवनं श्रीरूपमेव. अतएव "**लक्ष्मीसहस्रलीलाभिः सेव्यमानम्**" (सुबो.१०।१।०।का.१) इति आचार्यैः निरूपितम्. अत्रापि सेवारसाब्धित्वनिरूपणेन श्रीरूपता स्पष्टैव॥६॥

एवं श्रीरूपतां निरूप्य वैराग्यरूपम् आहुः **स्वामिन्** इति.

स्वामिन्! श्रीवल्लभाग्ने! क्षणमपि भवतः सन्निधाने कृपातः
प्राणप्रेष्ठ-व्रजाधीश्वर-वदन-दिदृक्षार्ति-तापो जनेषु॥
यत् प्रादुर्भावम् आप्नोत्युचिततरम् इदं यत्तु पश्चादपीत्थं
दृष्टेऽप्यस्मिन् मुखेन्दौ प्रचुरतरमुदेत्येव तच्चित्रमेतत्॥७॥

स्वामिन्! प्रभो! **श्रीवल्लभाग्ने! क्षणं भवतः सन्निधाने** नैकट्ये सति **प्राणप्रेष्ठव्रजाधीश्वर-वदनदिदृक्षार्तितापः** प्राणाद् अधिकत्वेन नायकभावेन व्रजाधीश्वरस्य वदनदर्शनेच्छाजनिता या आर्तिः तज्जनितो यः तापः आर्तितापः च इति वा **जनेषु** जन्मादिक्लेशयुक्तेष्वपि **यत् प्रादुर्भावम् आप्नोति इदम् उचिततरं** भवति इति अर्थः,

यथा अग्नेः सान्निध्ये तापः उचितः तथा तापात्मक-भवत्सान्निध्येऽपि भवतीति. **उचिततरत्व**कथनस्य अयं भावः : श्रीः च श्रीवल्लभः च तौ, तयोः उभयोः तापात्मकाग्निरूपस्य सान्निध्ये अधिकः स भवेत्. तत्र क्षणं सन्निधानं समपर्णार्थं, तत्समये च तत्स्वरूप-प्रभुस्वरूपस्मरणात् तापाधिकता इति भावः. तथा सति **क्षणस्य** समयः इति अर्थः ; समयं विचार्य सन्निधाने इति अर्थः. **व्रजाधीश्वर**नाम्ना अतिसुलभत्वज्ञाने सति **दिदृक्षा** व्यज्यते. तस्य पुनः दुर्लभत्वेन आर्तियुक्ततापाधिक्यं भवति. यथाच उक्तम् अस्मत्सर्वस्वेन " **पशुपराजसुदुर्ललितः सुतः** " (विज्ञ.सखीभाव.५७) इत्याद्येन पद्येन. भवत्समर्पणसन्निधाने सति तथाभावेन तापोत्पत्तिः उचिततरा. यत्तु **कृपातः** परमफलदानेच्छया भावतः **प्राणप्रेष्ठो** यो **व्रजाधीश्वरः** तद्वदनदिदृक्षार्ति-**तापः** त्वत्सङ्गतरसात्मक-तादृग्वदनदर्शनेच्छारूपो **अस्मिन् मुखेन्दौ दृष्टे** सति, मुखस्य इन्दुत्वेन विप्रयोगपाण्डुरत्वं, तस्मिन् दृष्टे **प्रचुरतरं** यथा स्यात् तथा **उदेति** इदं विचित्रम्. अस्य भावस्य दुर्लभत्वात् **चित्रता** उक्ता. इन्दौ दृष्टे तापाधिक्यस्य च चित्रता भवत्येव. **इत्थम्** इति विप्रयोगप्रकारेण इति भावः ॥७॥

भगवतो भक्तातिरिक्तेषु वैराग्यं, भक्तेषु अनुरागः. तथा अत्र समर्पितभक्तेषु तथादानेन तदतिरिक्तेषु वैराग्यं ज्ञायते इति वैराग्यरूपतां निरूप्य ज्ञानरूपतां निरूपयन्ति **अज्ञानाद्यन्धकार** इति.

अज्ञानाद्यन्धकार-प्रशमन-पटुता-ख्यापनाय त्रिलोक्याम्
अग्नित्वं वर्णितं ते कविभिरपि सदा वस्तुतः कृष्णएव॥
प्रादुर्भूतो भवान् इत्यनुभवनिगमाद्युक्तमानैरवेत्य
त्वां श्रीश्रीवल्लभेमे निखिलबुधजनाः गोकुलेशं भजन्ते॥८॥

॥ इति श्रीमद्विठ्ठलदीक्षितविरचितं श्रीवल्लभाष्टकं सम्पूर्णम् ॥

अज्ञानम् आदिः यस्य सएव **अन्धकारः** तत्**प्रशमनं** दूरीकरणं तत्र **पटुता** समर्थता तत्**ख्यापनाय त्रिलोक्यां ते** तव **अग्नित्वं कविभिरपि** शब्दार्थरसिकैः शास्त्रार्थज्ञैः वा **वर्णितं सदा** नित्यम् इति अर्थः. **वस्तुतो अनुभवनिगमाद्युक्तमानैः** अनुभवात्मकनिगमरूप-व्रजसीमन्तिन्याद्युक्तमानैः स्वानुभवात्मक-निगमाद्युक्तमानैः च **भवान्** अग्निरूपः तापात्मकः **प्रादुर्भूतः** इति **त्वाम् अवेत्य** कृष्णएव **तापात्मकं** त्वां **वर्णयन्ति.** अतो **निखिलबुधजनाः** रसज्ञाः **इमे** इति समर्पितात्मानः **श्रीश्रीवल्लभ!** श्रीद्वयस्यापि वल्लभं **त्वां गोकुलेशं भजन्ते.** यद्वा यतः **प्रादुर्भूतः कृष्णः** सदानन्दोऽपि **वस्तुतो भवान्** तापः **इति त्वां** वर्णयन्ति **इति** हेतोः **निखिलबुधजनाः** भगवत्स्वरूपविदः **इमे** त्वत्समर्पितात्मानः **अनुभवात्मकनिगमरू**पाः व्रजनितम्बिन्यः त्वद्**उक्त-मानैः** प्रमाणैः तत्तापनिरूपकएव पुरुषोत्तमो न अन्यः इत्याद्यैः **त्वाम्** एव **प्रादुर्भूतगोकुलेशं** पुरुषोत्तमम् **अवेत्य** ज्ञात्वा **भजन्ते.** अतएव भगवता "**गोपीनां मद्वियोगाधिम्**" (भाग.पुरा.१०।४३।३) इत्यादि (कथितम्!). "**किं करिष्यति किं वदिष्यति**" (गीतगोवि.७।३) इत्यादिषु च तथैव गीयते. पुरुषोत्तमस्वरूपम् एतादृगेवेति नाधिकं विचारणीयम् अत्र. अतएव श्रीशुकैरपि "**नमो नमस्तेऽस्तु**" (भाग.पुरा.२।४।१४) इत्यस्मिन् पद्ये भगवत्स्वरूपं तथैव निर्णीतम्. ज्ञानस्वरूपम् एतदेव यत् पुरुषोत्तमस्वरूप-याथात्म्यस्फूर्तिरेव. एतस्य ज्ञानस्वरूपत्वं स्पष्टमेव इति दिक्॥८॥

इति श्रीगोकुलाधीशवल्लभाष्टकमद्भुतम् ॥
प्रकाशितं तेन भूयात् प्रसन्नो मत्प्रभुर्मयि ॥१॥
यथोक्तमत्र तं ज्ञात्वा स्वरूपं मत्प्रभोः सदा ॥
भजन्तु भक्तास्तेष्वेव कृपयिष्यत्ययं तथा ॥२॥
एवंरूप-स्वरूपस्य सेवनादेव सर्वदा ॥

निश्चिन्ताः स्मो यतः कृष्णो वल्लभात्मजनन्दनः ॥३॥
कृपया श्रीघनश्यामो ववर्ष मयि सन्ततम् ॥
स्वाचार्यचरणाम्भोजस्वरूपरसबिन्दुभिः ॥४॥

इति श्रीमत्प्राणेशश्रीविठ्ठलनाथचरणानुरक्तचरणजोधनविरचितः
श्रीवल्लभाष्टकविवरण-भक्तिरसजलधिः
सम्पूर्णः

॥ अन्तःकरणप्रबोधः ॥

(श्रीव्रजराजकृत-विवरणोपेतः)

नत्वा स्वाचार्यपादाब्जं सर्वाभीष्टप्रदायकम्।
तदुक्तबोधवाक्यानि व्याख्यास्ये बोधसिद्धये॥

(अथ)* श्रीमदाचार्यचरणाः (स्वीयान् प्रति नवरत्ने "**चिन्ता कापि न कार्या**" इति आज्ञाप्य तस्याः अन्तःकरणधर्मत्वाद् अन्तःकरणस्य च स्वभावचञ्चलत्वाद् वृथाध्यानादिसम्भवे पूर्वोक्ताज्ञाभङ्गसम्भवाद् निवेदनं कृतमपि अकृतं स्याद् इति तदभावाय प्रमेयबलेन यथा भगवान् भक्तान्तःकरणसम्बन्धी सन् फलप्रकरणे मदमान-निवारणं कृतवान् तथा अत्र)* स्वीयान्तःकरणबोधार्थं (तद् अभिमुखीकृत्य)* सप्रौढिस्वस्वरूपज्ञापनपूर्वकम् अन्तःकरणप्रबोधं निरूपयन्ति एकादशश्लोकैः एकादशेन्द्रियबोधकत्वेन **अन्तःकरण** इति.

अन्तःकरण मद्वाक्यं सावधानतया शृणु॥
कृष्णात् परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोषवर्जितम्॥१॥

हे **अन्तःकरण** मदीयानाम् इति शेषः (समाप्तौ **भक्तो निश्चिन्ततां व्रजेद्** इति उपसंहाराद् बोध्यः)*, **मद्वाक्यं सावधानतया** सावधानीभूयशृणु शृणुष्व इति अर्थः. स्ववाक्यत्वेन आप्तता उक्ता. श्रवणे सावधानत्वोक्तिः श्रवणानन्तरं तथाकरणार्थम्. अन्तःकरणस्य

( )*चिह्नान्तर्गतं श्रीमत्पुरुषोत्तमचरणैः संशोध्य सम्पूरितं ज्ञेयम्.

एकवचनं स्वमार्गे सर्वेषाम् एकरूपत्वज्ञापनाय जात्यभिप्रायेण. (अत्र सर्वे प्राञ्चः स्वान्तःकरणमेव बोधनीयत्वेन अङ्गीचक्रुः ; तदपि श्रीवल्लभाष्टके रूपद्वयेन अवतारबोधनात् सर्वोत्तमे "**स्वास्यं प्रादुर्भूतं चकार**" (सर्वो.स्तो.३) इति उक्तेः च मुखाग्न्यवताराभिप्रायेण सङ्गतमेव)* . एवं स्वीयानाम् अन्तःकरणं सम्मुखीकृत्य बोधवाक्यमेव आहुः **कृष्णात् परम्** इति. **कृष्णात्** "**कृषिः भूवाचकः**" (गो.पू.ता.उप.१।१) इत्यस्य भावानन्दात्मकतया विवरणेन व्रजवरवल्लभानां भावात्मकात् (**परम्** उत्कृष्टं **दैवं** देवानां क्रीडाकृतां समूहो वा, "**दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्यम्**" (अम.कोश १।४।२७) इति कोशात् तासां भाग्यरूपं वा, **नास्ति** इतरं)* नास्ति इति अर्थः. ननु किं स्तुतिरेव इयम् इति आशङ्कायाम् आहुः **वस्तुतः** इति. तत्र उत्कृष्ट(-तायाः वास्तव-)*त्वार्थं विशेषणम् आहुः **दोषवर्जितम्** इति. दोषैः वर्जितं रहितम् इति अर्थः. (तथाच इदं तद्वास्तवत्वे बीजम्. किञ्च)* **कृष्णपदात्** सदानन्दः उक्तः. तेन यथा गोपिकार्थं कोटिकन्दर्पलावण्यं प्रकटीकृत्य प्रकटः तथा सर्वत्रापि तदर्थं प्रकटो भविष्यति इति ज्ञापितम्. तेन अन्यत्र क्रीडारूपत्वं नास्त्येव इति जीवानाम् अन्यत्र नायकभावेन भजनं दोषरूपमेव इति भावो **दोषवर्जितम्** इत्यनेन ज्ञापितः. अतएव "**वीर योषिताम्**" (भाग.पुरा.१०।२८।६) इत्यत्र 'व्रजनितम्बिनी' वाक्यव्याख्याने श्रीमदाचार्यैः "**नहि कृष्णाद् अन्यो जगति कश्चिद् एवं सम्बोधनम् अर्हति**" (सुबो.१०।२८।६) इति निरूपितम्. आद्यश्रीमहिषीभिरपि "**त्वक्श्मश्रुरोम-**" (भाग.पुरा.१०।५७।४५) इति पद्येन अन्यत्र कान्तभावस्य दोषरूपता निरूपिता. (तथाच स्वक्रीडानुरोधेन स्वीयभाग्यरूपतया च स्वयमेव अस्माकं करिष्यति इति निश्चित्य चिन्ता न कार्या इति अर्थः)* ॥१॥

(ननु सत्यम् एवं तथापि भगवतो ब्रह्म-श्रुत्यादि-दुरापचरणरेणुत्वे

स्वतुच्छत्वे च स्फुरिते सा उत्पद्येतैव इति कथं तन्निवृत्तिः इति आकाङ्क्षायां तन्निवृत्त्यर्थम् एवं)* दोषरहितस्वरूपं विचार्य तत्र मानापेक्षादि-दोषराहित्येन आज्ञैव कार्या इति सार्धैः त्रिभिः वदन्तः प्रथमं (तुच्छत्वस्फूर्तेः अकिञ्चित्करत्वाय निदर्शनम् आहुः)* **चाण्डाली चेद्** इति.

चाण्डाली चेद् राजपत्नी जाता राज्ञा च मानिता॥
कदाचिदपमाने वा मूलतः का क्षतिर्भवेत्॥२॥

चाण्डाली चेत् कदाचिद् **राज्ञा मानिता** सती **राजपत्नी च जाता.** चकारेण स्वस्यापि तथाभिमानोत्पत्तिः जाता इति ज्ञाप्यते. (तदा)* तादृश्याः **कदाचिद् अपमाने वा मूलतो** राजपत्नीत्वतः **का क्षतिः भवेत्** न कापि इति अर्थः. माने कारणं राजपत्नीत्वं, नतु चाण्डालीत्वम्. राजपत्नीत्वेऽपि कारणं राजसम्माननं, नतु स्वधर्मः कोऽपि. तस्मात् तत्कृतापमानस्यापि न राजपत्नीत्वान्यथाकारित्वशंका. यथा[१] राजपत्नीत्वसम्पत्त्यनन्तरम् अपमानेऽपि न तद्धानिः तथा अत्र समर्पणानन्तरं (परीक्षाद्यर्थं)* द्वितीयरसपूर्त्यर्थं वा भगवता अपमानेऽपि कृते स्वस्य पुनः अन्यभावो न भविष्यति. समर्पणेन यो भावो जातः सतु जातएव, (पुनः यदा परीक्षादिपूर्तिः)* संयोगरसदानेच्छा (वा)* भविष्यति तदा पुनः तथैव मानप्राप्तिरपि भविष्यति इति विचार्यम्. (तथा द्वितीयव्याख्यानरीत्या राजपत्नीत्वमिव समर्पणानन्तरं स्वस्य सेवायोग्यत्वमेव विचार्यं, नतु चाण्डालीत्वमिव स्वतुच्छत्वमपि विचार्यम्)* ॥२॥

---

[१]"किञ्च यथा राजसम्पत्त्यनन्तरं पूर्वस्वरूपं न विचार्यं तद्विचारे सति स्वहीनत्वे स्फुरिते तस्य रसहानिः स्यात् तथा समर्पणे कृतेऽपि स्वस्वरूपविचारेण प्रभुः कृपां करिष्यति न वा इति हीनत्वं न विचार्यम्"इति श्रीपुरुषोत्तमचरणैः अनादृताः पंक्तयः स्वहस्ताक्षरशोधितग्रन्थे सन्ति.

(भगवता पुष्टिमार्गस्य स्वार्थं प्रकटितत्वेन स्वोरीचिकीर्षित-जीवदोषाऽनादरणपुरःसरं तदङ्गीकरणे अन्तरा च जीवदोषाद् "**आसक्तौ भगवानेव**" (पु.प्र.म.१८) इति न्यायेन विलम्बेऽपि "**पूर्वात् परबलीयस्त्व-**" (जैमि.सू.६।५।५४) न्यायेन न अङ्गीकारतिरस्कारो नापि दोषप्राबल्यम् इति न तुच्छत्वावसरः इति आश-)* येन आहुः **समर्पणाद् अहम्** इति.

समर्पणाद् अहं पूर्वम् उत्तमः किं सदा स्थितः ॥
का ममाधमता भाव्या पश्चात्तापो यतो भवेत् ॥३॥

समर्पणात् पूर्वं किम् अहं सदा उत्तमः स्थितः अपितु न. तथाच समर्पणात् पूर्वं येन भगवद्दत्त-मानापेक्षा स्यात् तादृग्भावयुक्तस्तु न स्थितः; तदनन्तरमेव तथा जातः. तेन अपमानेऽपि (**मम**) **का अधमता भाव्या** (भाविनी विभावनीया वा) **यतः** समर्पणानन्तरं **पश्चात्तापो भवेत्?** ...कदाचित्करः इत्यनेन आश्वासनार्थं स्वसहजधर्मः आगन्तुकधर्मः च स्मारितः ॥३॥

अतः परम् अर्धेन नित्याङ्गीकाररूपं भगवद्धर्मं तदर्थं स्मारयन्तः तेन प्रत्युत मानकरणात्मक-स्वरूपसम्पत्तिः भविष्यति, पुनः अन्यथा सान भविष्यत्येव, भगवदंगीकारस्य नित्यत्वाद् इति आहुः **सत्यसंकल्पतः** इति.

सत्यसंकल्पतो विष्णुर्नान्यथा तु करिष्यति ॥

सत्यसंकल्पतो विष्णुः व्यापकः **अन्यथा तु न करिष्यति.** यथा

"**ये यथा मां प्रपद्यन्ते**" (भग.गीता ४।११) - "**द्विः स्थापयति न आश्रितान्**" (हनुमन्नाटक.१।४८) इत्यादिः संकल्पः सत्यो = विषयाव्यभिचारी तथा "**मां प्रपन्नो अजनः कश्चित् न भूयो अर्हति शोचितुम्**"(भाग.पुरा.१०।४८।४३) इत्यादिः (अपि)* भगवतः सत्यएव संकल्पः. तेन पुनः तं प्रपन्नम् अन्यथा न करिष्यति (=शोकयुक्तं न करिष्यति इति अर्थः. किञ्च)* विष्णुः = व्यापकः तेन विप्रयोगसमयेऽपि रसदानं करिष्यति "**मया परोक्षं भजता**" (भाग.पुरा.१०।२९।२१) इति न्यायेन इति ज्ञाप्यते.

एवं (स्वस्वरूपधर्मं भगवद्धर्मं च स्मारयित्वा स्वीयसेवकस्य रक्षणाय यतः)* प्रभुः अन्यथा न करिष्यति अतो भावात्मकं समर्पणम् अनुसन्धाय अपमानजं क्लेशं परित्यज्य भगवान् यथैव इच्छापूर्वकम् आज्ञापयति तथैव कार्यम् इति आहुः **आज्ञैव** इति.

आज्ञैव कार्या सततं स्वामिद्रोहोऽन्यथा भवेत्॥४॥
सेवकस्य तु धर्मोऽयं स्वामी स्वस्य करिष्यति॥

सततं निरन्तरम् **आज्ञैव कार्या, अन्यथा** तदकरणे **स्वामिनः** प्रभोः **द्रोहो भवेद्** भगवता स्वकार्यकरणार्थं (स्वदासीय)* देहकरणात् तदाज्ञायाः अकरणे बाधकमेव स्याद् इति भावः. (भगवद्दत्तं देहं भगवत्कार्यार्थं जीवो धृत्वा तिष्ठति इति पुरञ्जनोपाख्यानाद् (भाग.पुरा.४।२५-) ज्ञेयम्)*. सिद्धम् आहुः **सेवकस्य** इति. **सेवकस्य अयमेव धर्मो** यद् आज्ञाकरणम्. तुशब्देन अन्यधर्मनिवृत्तिः सूच्यते (एवं पादत्रयेण स्वाज्ञापरिपालनरूपो दासधर्मो भगवत्तोषहेतुः इति तुना पक्षान्तरनिरासपूर्वकं स मुख्यतया उपसञ्जहे)*. एवं सेवकधर्मम् उक्त्वा

प्रभुधर्मस्वरूपम् आहुः**स्वामी** प्रभुः **स्वस्य** इच्छातः **करिष्यति** इति. स्वमनोभिलषितकरणं प्रभुधर्मएव, सेवकधर्मस्तु तदाज्ञाकरणमेव इति 'तु'शब्देन ज्ञाप्यते. (संयोगपृथक्त्वेन अत्रापि 'तु'शब्दस्य अनुषंगः. यद्वा **स्वामी** भगवान् **स्वस्य** आत्मीयस्य दासस्य **करिष्यति** स्वाज्ञापालनाग्रहं विलोक्य दयया तं धर्मं निर्वाहयिष्यति इति अर्थः. अतः तदर्थमपि न चिन्तावसरः इति भावः)* ॥४॥१/२॥

(एवं सार्धैः त्रिभिः आज्ञैव कार्या इति सम्यग् उपदिश्य)* एवं भगवदाज्ञप्तकरणसन्तुष्ट-प्रभुसम्पादितेन स्वस्य उत्तमत्वेन कदाचिद् आज्ञप्तान्यथाकरणेऽपि स्वस्य तादृक्सेवकत्वमेव भाव्यं, नतु अन्यथा विचारणीयं पश्चात्तापो वा कर्तव्यो, यतः प्रभुरेव स्वेच्छातः तथा कारयति इति आशयेन स्वदृष्टान्तम् आहुः **आज्ञा** इति.

आज्ञा पूर्वं तु या जाता गंगासागरसंगमे ॥५॥
यापि पश्चान्मधुवने न कृतं तद्द्वयं मया ॥
देहदेश-परित्यागस्तृतीयो लोकगोचरः ॥६॥

या आज्ञा पूर्वं गंगासागरसंगमे गंगासागरसमीपे **जाता, पश्चाद् या मधुवनेऽपि जाता तद्** आज्ञाद्वयं **मया न कृतम्**. '**तु**'शब्दस्तु आज्ञाद्वयाकरणस्य भगवदिच्छाविषयरूपत्व-ज्ञापनार्थः. ननु आज्ञाद्वयं किंविषयकम् इति अपेक्षायाम् आहुः **देह-देशपरित्यागः** इति. गंगासागरसंगमे अन्यत्र गमनकृत-स्वनिकटस्थित्यभावज-कोपेन देहपरित्यागविषयिणी. सापि पूर्वोक्तप्रकारेच्छाजनित-क्षणवियोगासहिष्णुतया जाता. (एवं मधुवने मथुरायां देशत्यागविषयिणी)*. स्वाचार्यैस्तु स्वीयशिक्षार्थक-विप्रयोगतापानुभवार्थं दूरएव स्थितिः येते. भगवता स्वार्थं तथा आज्ञप्तम्. श्रीमदाचार्यैः स्वसौभाग्यज्ञापनाय तद् आज्ञाद्वयमपि **न कृतम्**. तृतीया

लोकगोचरा लोकपरित्यागविषयिणी जाता सा कृता इति भावः. (**तृतीयः** आज्ञाविषयः सच उभयसमुदायरूपः संन्यासः इति व्याख्येयम्. तथाच **द्वयं न कृतम्** अपि एवं कृतं, तदपि **मया** तदवतारेण. अतो मन्निदर्शनं अन्येन तथा न कार्यं किन्तु यथा प्रभ्वाज्ञा तथैव कार्यम् इति भावः. यद्वा **न कृतम्** इत्यत्र काकुः. 'दिह'=उपचये, 'दिश'=अतिसर्जने, 'देहः'उपचयः, 'देशो' दानम्. अयम् अर्थो : भगवता श्रीभागवतार्थप्रकटनाय पूर्वम् आज्ञप्तं, तत् सूक्ष्मटीकाकरणेन कृतम्. ततः सुबोधिन्याम् उपचयो ग्रन्थबाहुल्यात्मा आरब्धः. तदा देहपरित्यागः आज्ञप्तः. ततः तद् विहाय निरोधएव विवृतः. ततो मुक्तौ विव्रीयमाणायां देशपरित्यागः आज्ञप्तः. तदा विमोचने स्वाश्रयप्रापणे च विवृते फलं दत्तमेव स्याद् इति तदभावाय तादृशम् आज्ञाद्वयं मयापि स्वाग्रहत्यागेन कृतं चेद् अन्येनतु सर्वथा कर्तव्यमेव इति भावः)* ॥५-६॥

(एवम् आज्ञायाः अकरण-करणे उक्त्वा)* स्वस्य आज्ञाद्वयाकरणज-पश्चात्तापाभावाय आहुः **पश्चात्तापः** इति.

पश्चात्तापः कथं तत्र सेवकोऽहं न चान्यथा॥
लौकिकप्रभुवत् कृष्णो न द्रष्टव्यः कथञ्चन॥७॥

तत्र आज्ञाद्वयाकरणे **पश्चात्तापो** मया **कथं** कर्तव्यः? यतः **अहं सेवको** अस्मि. तदपि स्वस्य सेवकत्वप्रौढ्यैव कृतं, **नच अन्यथा** न केवलं स्वप्रौढ्या इति. तथाच मम इदं (शोभते, नतु अन्यस्य इति भावः. यद्वा आज्ञाद्वयाकरणात् ममापि पश्चात्तापः चेद् अन्यस्य तु अत्यन्तएव स्याद्, अतः तथा अन्येन न कार्यम् इति भावः)*. ननु सेवकत्वे सति स्वप्रौढ्या आज्ञायाः अकरणे भगवान् अप्रसन्नो भवेद् (इति कथं भवतां शोभाकरं? यदि शोभाकरं, कथम् अन्येन

न कार्यम् ?)* इति आशंक्य भगवतो अलौकिकत्वेन तदभावम् आहुः **लौकिकप्रभुवद्** इति. **लौकिकप्रभुवत् कृष्णः** सदानन्दः फलरूपः **कथञ्चन** केनापि प्रकारेण **न द्रष्टव्यः**. तथाच यथा लौकिकप्रभूणां स्वोक्ताकरणे क्रोधो भवति, भगवतः तथा न भवति. यतः तद्रसानुभवार्थं प्रभुरेव तथा प्रेरयति. अतएव भगवता पार्थं प्रति उक्तं "**कर्तुं न इच्छसि**" इत्यारभ्य "**मायया**" (भग.गीता १८।६०-६१) इत्यन्तम्. लौकिकानाम् अतथाभावात् क्रोधो भवति. (अतो भगवदप्रसन्नतायाः अभावाद् अस्माकं शोभाकरम्, अन्यस्यतु तादृग्योग्यतायाः अभावेन भगवदिच्छाज्ञानाभावाद् अनुचितमेव इति अर्थः)* ॥७॥

(एवम् आज्ञाकरण-तदकरणव्यवस्थाम् उक्त्वा तेन यत् सिद्धं तद् वदिष्यन्तो)* भगवति सर्वसमर्पणं जीवधर्मः, पश्चात्तु प्रभुः स्वेच्छया यत् करिष्यति तत् करोतु, त्वयापि तथैव स्वधर्मः कृतो अस्तीति नैश्चिन्त्येन स्थीयताम् इति आहुः **सर्वम्** इति.

सर्वं समर्पितं भक्त्या कृतार्थोऽसि सुखी भव॥
प्रौढापि दुहिता यद्वत् स्नेहात् न प्रेष्यते वरे॥८॥
तथा देहे न कर्तव्यं वरस्तुष्यति नान्यथा॥

भक्त्या स्नेहेन **सर्वं समर्पितम्** अतः **कृतार्थो असि सुखी भव** सुखेनैव स्थीयताम्. परिणामे सुखमेव इति **सुखी भव** इति उक्तम्.**सर्व**पदेन लौकिकं रसाधिकरण-देहसम्बन्धिभावरूपम् अलौकिकं च इति ज्ञापितम्. समर्पणे कृते देहेऽपि सम्बन्धस्य जातत्वाद् देहेनैव सेवा कर्तव्या इति लौकिकरसात्मकनिदर्शनपूर्वक (तत्कर्तव्यत्वावश्यकत्वम् आहुः)* **प्रौढापि** इति. **प्रौढापि** रसयोग्यापि **दुहिता** स्वस्य **स्नेहात्** तस्य **वरे यद्वत् न प्रेष्यते तथा देहे न कर्तव्यं** स्वस्य देहस्नेहेन

भगवत्सेवायां देहस्य अविनियोगो न कर्तव्यः. किन्तु देहेन लौकिकेन भावात्मकेन च भगवद्रसयोग्यसेवैव कर्तव्या. तदकरणे **वरः प्रभुः अन्यथान तुष्यति** यथा स वरः स्वस्त्रीं विना न तुष्यति तथा प्रभुरपि न तुष्यति. अत्रापि समर्पणानन्तरं मुख्यो भावः सएव उच्यते. एतज्ज्ञापनार्थमेव पूर्वं निदर्शने राजपत्नीत्वम् उक्तं, द्वितीयेनापि तथैव उक्तम्॥८॥१/२॥

(एवं देहस्नेहत्यागपूर्वकं देहेन सेवैव कारणीया इति निर्धार्य पूर्वं भगवता परीक्षाद्यर्थं कृते विलम्बे "**मम कथं गतिः भवित्री**" इति या चिन्ता कृता सा ते गुणायैव जाता नतु दोषाय, नहि एषा अनंगीकृतौ चिन्ता भवति किन्तु अंगीकृतावेव इति आश्वासनाय दृष्टान्तमुखेन परिचायकान्तरं वदन्तः)* एतत्सेवाद्यभावे सर्वं व्यर्थमेव इति आहुः **लोकवद्** इति.

लोकवच्चेत् स्थितिर्मे स्यात् किं स्याद् इति विचारय॥९॥
अशक्ये हरिरेवास्ति मोहं मा गाः कथञ्चन॥

चेत् समर्पणाभावे **मे स्थितिः लोकवत्** सर्वसाधारण्येन **स्यात्** तदा **किं स्यात्** फलम् इति शेषः **इति विचारय. किं स्यात्** न किमपि इति अर्थः. (तथाच तथास्थित्यभावएव गुणपरिचायकः इति भावः)*. ननु एतद्भावस्य सर्वफलरूपत्वम् अस्ति इति सत्यं, तस्य परं भावस्यअशक्यत्वात् तत्प्राप्तिः कथं स्याद् (इति चिन्तातु भवति इति चेद्, बिभेषि तदा तादृशभीते भगवानपि दयालुरेव)* इति आहुः **अशक्ये** इति. **अशक्ये** सति **हरिः** अकारणसर्वदुःखहर्ता **अस्त्येव** शरणम् इति शेषः. अतः तदभावे सर्वं व्यर्थम् इति लौकिकेन विचारेण **कथञ्चन** तत्प्राप्त्यर्थं **मोहं मा गाः** मा प्राप्नुहि॥९॥१/२॥

एवं प्रबोधं निरूप्य (अतः परं शंकापिशाच्यनुदयाद्)* उपसंहरन्ति **इति** इति.

इति श्रीकृष्णदासस्य वल्लभस्य हितं वचः ॥१०॥
चित्तं प्रति यद् आकर्ण्य भक्तो निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥

॥ इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणविरचितान्तःकरणप्रबोधः ॥

इति इति समाप्तौ प्रकारे वा. **श्रीकृष्णे दास्यं** गत**स्य वल्लभस्य** रसरूपत्वेन प्रियस्य **चित्तं** (स्मृतिजनकम् अन्तःकरणं)* **प्रति हितं** हितकरं **वचो** अस्ति सति अर्थः. **यद्वचः आकर्ण्य** आसमन्तात् = तात्पर्यपूर्वकं श्रुत्वा **भक्तो** भूत्वा **निश्चिन्ततां** निश्चिन्तस्य भावम् = अलौकिकत्वं **व्रजेत्** ॥१०।१/२॥

चित्तप्रबोधवाक्यानि स्वाचार्योक्तानि सर्वदा।
तिष्ठन्तु हृदये येन प्रसीदति हरिः स्वयम् ॥

इति श्रीमत्प्रभुचरणरेणुधन (श्रीश्यामलात्मज-श्रीव्रजराज) कृतम्
अन्तःकरणप्रबोधविवरणम् सम्पूर्णम्

॥ विवेकधैर्याश्रयः ॥

(श्रीव्रजराजकृता विवृतिः)

यत्प्राप्तिमात्रतो नूनं रतिः स्याद् गोकुलाधिपे।
स श्रीमदाचार्यपाद-रेणुर् मह्यं प्रसीदतु॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणाः निबन्धे वैदिकयोः कर्मज्ञानमार्गयोः भक्तिमार्गस्य च सम्यक् प्रपञ्चितत्वेऽपि कलौ तेषां दुःसाध्यत्वं विमृश्य तत्र असमर्थानामर्थे संक्षेपेण "**जगन्नाथे विट्ठले च**"(त.दी.नि.२।२५५) इत्यत्र उक्तं प्रपत्तिमार्गं हृदि सिद्धवत् कृत्वा इदानीं तं प्रपञ्चयिष्यन्तः तस्य मार्गस्य पूर्वोक्तमार्गत्रयोपकारकत्वं च बोधयिष्यन्तो विवेक-धैर्याभ्याम् आश्रयस्य सिद्धिं बोधयितुं तत्साधने विवेक-धैर्ये रक्षितुं नियुञ्जन्ति; तद्रक्षणस्य आवश्यकत्वं वा, बोधयन्ति **विवेक**इत्यादि.

विवेकधैर्ये सततं रक्षणीये तथाश्रयः ॥
विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यति ॥१॥

सततं निरन्तरं **रक्षणीये** इति प्रैषे प्राप्तकाले वा 'अनीयर्', तेन नियोगः आवश्यकत्वं च समञ्जसम्. रक्षणे नैरन्तर्योक्त्या आश्रयोत्तरमपि तद्रक्षणावश्यकत्वं बोध्यते. रक्षणञ्च अत्र तन्नाशकनिवारणेन तत्पोषणम्. एतदेव साम्प्रदायिकैः स्वीकारत्वेन तदनुसन्धानपूर्वक-तदनुकूलकृतिकरणत्वेन च बोधितम्. तेन च फलम् आहुः **तथा आश्रयः** इति. तथाकृतेः आश्रयः सिद्ध्येद् इति अर्थः. यद्वा ते **तथा** तेन प्रकारेण **रक्षणीये** यथा **आश्रयः** सिद्ध्येद् इति अर्थः. यत्-तदोः नित्यसम्बन्धात्

क्रियामात्रस्यैव अध्याहारः. आश्रये क्रियासम्बन्धस्य कण्ठतो अनुक्त्या पृथगुपादानेन च स्वकृत्यसाध्यत्वं तुष्टप्रभुदानसाध्यत्वं च ज्ञाप्यते, "**सोऽहं तव अंघ्र्युपगतो अस्मि असतां दुरापं तच्चापि अहं भवदनुग्रहम् ईश मन्ये**"(भाग.पुरा.१०।३७।२८) इति अक्रूरस्तुतौ सुबोधिन्यां तथा प्रपञ्चनात्.

अत्र साम्प्रदायिकाः : अध्याहारापेक्षया अनुषंगस्य वचनविपरिणामस्य च लघुत्वात् **तथा आश्रयो** रक्षणीयः इत्येवं योजनं ज्यायो मत्वा केचन त्रयाणां दण्डचक्रादि-न्यायेन (लौकि.न्या.साह.४३४) भक्त्युपायत्वसामान्यात् समप्राधान्यं रोचयन्ते. केचन पूर्वयोः एकपदेन कथनात् तृतीयस्य पृथगेव उपादानात् पूर्वयोः उत्तरहेतुत्वं युक्तम् उत्पश्यन्ति. केचन त्रयाणां क्रमेण उक्तेः सेवायां प्रवृत्तस्य पूर्वं विवेकः आवश्यकः, ततो धैर्यम्, आश्रयस्तु उभयनिर्वाहकः इति तात्पर्यं प्रकाशयन्ति. यद्यपि एवं मतत्रयमपि उपपन्नं तथापि समाप्तौ आश्रयस्य फलसम्बन्धबोधनात् स्व-स्वाभिसंहितरूपेण आश्रयस्यैव मुख्यत्वप्रकाशनात् च अध्याहारेण योजनापि अदुष्टैव. नच गौरवं शंकनीयं, तत्पक्षेऽपि अनुषंग-विपरिणामयोः द्वयोः अङ्गीकारेण तौल्यात्. किञ्च एवं "**पृथक्शरणमार्गोपदेष्टा**" (सर्वो.स्तो.२५) इति नामापि पुष्टार्थं भवति. अन्यथातु निबन्धे संक्षेपेण निरूपणात् सुबोधिन्यामपि अन्यशेषत्वेन क्वचित् संकीर्णत्वात् तत्र-तत्र किञ्चित्किञ्चित् कथनेन विप्रकीर्णत्वात् च 'पृथक्'पदम् अपुष्टार्थं स्यात्. नच एवं सति भक्त्यंगत्वभंगात् सुबोधिन्यादौ तथात्वेन निरूपणं विरुद्ध्येद् इति वाच्यम्, उपकारकत्वेन गौण्यापि तत्सम्भवात्.

किञ्च अयं शरणमार्गो न भक्तिमार्गाद् विविक्तः, पुष्टिप्रवाहमर्यादाग्रन्थे पृथक् तदनुक्तेः किन्तु प्रवाहाद् अत्यन्तं विविक्तो

भगवति स्वस्वामित्वस्य सर्वदा अनुसन्धानाद् मर्यादायाअपि विविक्तः पुष्ट्या संकीर्णः. तेन प्रयोजकैक्यात् तत्र मिश्रभेदेषु एतन्मिश्रत्वानुक्तेः, अत्र च समाप्तौ आश्रयकथने "**कलौ भक्त्यादिमार्गाः हि दुःसाध्याः**" (श्लो.१७) इति मार्गत्रयदुःसाध्यत्वस्य हेतुत्वकथनेन अस्य भक्त्यादिमार्गानुकल्पत्वबोधनात् च स्वरूपभेदात् त्रितयसजातीयः स्वफलसाधनेन तत्तदुपकारकः च इति सिद्ध्यति. तच्च अनुकल्पत्वं[१] "**नामानि अनन्तस्य**"(भाग.पुरा.१।६।२७) इत्यत्र प्रथमस्कन्धषष्ठे प्रपञ्चितम्. यद्यपि तद् अनुकल्पत्वं विरक्ताधिकारिकत्वं तथापि गीतायाः द्वादशे अध्याये "**अथ एतदपि अशक्तो असि कर्तुम् उद्योगम् आश्रितः**" (भग.गीता १२।११) इत्यत्र "**सर्वधर्मान्...**" (भग.गीता १८।६६) इत्यत्र च गृहस्थम् अर्जुनं प्रति कथनाद् गृहस्थाधिकारिकत्वमपि सिद्ध्यति. अनुकल्पस्य उपकारकत्वं च पूर्वतन्त्रसिद्धम्. एतावान् परं विशेषः तत्र फलोपकारकत्वं सिद्धम् अत्रतु स्वरूपोपकारकत्वमपि अस्ति इति. तेन येषां यथा भातः तैः तथा विवृतइति न कोऽपि क्वापि विरोधः.

ननु निबन्धोक्तस्यैव अयं विस्तारः इति कथं विनिगन्तव्यम्? इति चेद्, इत्थं : तत्र पूजाप्रवाहस्य भगवत्सान्निध्यगमकत्वम् उक्त्वा तत्र तत्परत्वेन स्थितिः प्रपत्तिः इति मार्गस्वरूपं निष्कृष्टं परन्तु तच्छरीरप्रविष्टं तत्परत्वं न विचारितम्. तद् अत्र सिद्ध्यतीति तथा विनिगम्यते. किञ्च 'प्रपत्ति'पदार्थः शरणगमनं, "**कृष्ण-कृष्ण! अप्रमेयात्मन्! प्रपन्नभयभञ्जन! वयं त्वा शरणं यामः**" (भाग.पुरा.१०।६७।२५) इति मागधावरुद्धराजवाक्य-सुबोधिन्यां "**प्रपन्नभयनिवारकत्वं तव आवश्यकम्(-तत्रावश्यकम्) अतो वयं प्रपन्ना भवामः इति आहुः 'वयं त्वां शरणं यामः'**"(सुबो.१०।६७।२५) इति शरणगमनस्य प्रपन्नभवनत्वेन

---

[१]अनुकल्पस्य उपकारकत्वम् "**(अपि) शृण्वन् सुभद्राणि**" (भाग.पुरा.११।२।३९) इति एकादशे प्रपञ्चितम्.

व्याख्यानात्. तच्च अत्र स्फुटम् अतोऽपि तथा इति दिक्.

प्रकृतम् अनुसरामः. एवम् उभयोः विवेक-धैर्ययोः रक्षणं तस्य फलसम्बन्धं च बोधयित्वा तयोः रक्षणप्रकारम् आश्रयस्य च मार्गं वक्तुं तेन तत्स्वरूपं च वक्तुम् उद्देशानुसारेण प्रथमं विवेकस्य स्वरूपम् आहुः **विवेकस्तु** इत्यादि. साम्प्रदायिकास्तु "**विवेको अयं समाख्यातः**"(श्लो.५), "**एतत् सहनम् अत्र उक्तम्**"(श्लो.९), "**एवम् आश्रयणं प्रोक्तम्**" (श्लो.१७) इति उपसंहारदर्शनात् सामान्य-विशेषभावेन विवेक-धैर्याश्रयाणां स्वरूपस्यैव निरूपणम् अत्र ग्रन्थनाम्ना समास-व्यासधारणस्य विद्वदिष्टत्वेन च तथाकथनस्य औचित्यात् च इति आशयेन व्याकुर्वन्ति. तथा सति रक्षणप्रकारस्य अर्थात् सिद्धिः 'एवं-तु' वचनाद् इति शेषः.

प्रकृतम् अनुसरामः. 'विवेक'शब्दः पृथक्त्वे तज्ज्ञाने वा प्रसिद्धः, यथा 'नित्यानित्यवस्तुविवेकः' इति. शीलविशेषे च, यथा उचितसत्कारकर्तरि 'विवेकी' इति. "**विवेकः पुनः एकान्ते जलद्रोणीविचारयोः**" (अनेकार्थकोश.३।९८) इति कोशात् त्रिषु रूढः च. तद् अत्र किमपि न विवक्षितम् इति ज्ञापनाय '**तु**'शब्दः. कः तर्हि? **हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यति. हरिः** सर्वदुःखहर्ता **सर्वं** स्वीयानां लौकिकालौकिकं **निजेच्छातः** स्वतन्त्रेच्छातः क्रीडेच्छातो वा निजानाम् इच्छातो वा **करिष्यति.** अयञ्च विषयनिर्देशः, तेन एतद्विषयकम् अनुसन्धानं विवेकः इति अर्थः. अत्र '**हरि**'पदेन गजेन्द्रमोक्षकर्तृत्वस्फोरणात् पशुवद् अज्ञानाम् अत्यन्तदुःखहारित्वं सूच्यते. **निजेच्छातः** इत्यनेन "**क्रीडाभाण्डम् विश्वम् इदम्**" (भाग.पुरा.४।७।४३) "**क्रीडार्थम् आत्मनः इदं त्रिजगत् कृतम्**" (भाग.पुरा.८।२२।२०) इत्यादिवाक्योक्तं जगतः क्रीडाभाण्डत्वं स्मार्यते, इच्छाविशेषणीभूत-

‘**निज**’पदेन स्वस्य विशेषतः तदीयत्वं च. अतः स्वस्य अज्ञत्वे क्रीडाभाण्डत्वे वा स्फुरिते “**विश्वस्य यः स्थितिलयोद्भवहेतुर् आद्यो, योगेश्वरैरपि दुरत्यययोगमायः, क्षेमं विधास्यति स नो भगवान् त्र्यधीशः, तत्र अस्मदीयविमृशेन कियान् इह अर्थः**”(भाग.पुरा.३।१६।३६) इत्यादिरूपेण अनुसन्धेयम्. विशेषतः तदीयत्वस्फूर्तौ “**अहं भक्तपराधीनः**” (भाग.पुरा.९।४।६३) “**मयि ते तेषु चापि अहम्**” (भग.गीता ९।२९), “**आत्मारामोऽपि अरीरमद्**” (भाग.पुरा.१०।२९।४२) इत्यादिवाक्योक्तं भगवतो भक्ताधीनत्वं, परोक्षेण हितकारित्वं, स्वनिकटवर्तित्वं, स्वरूपमर्यादामपि अतिक्रम्य भक्ताभिलाषपूरकत्वं, यथाधिकारम् अनुसृत्य भाविहितकारित्वम् अनुसन्धेयमिति तस्य-तस्य तादृक्तादृगनुसन्धानं विवेकः इति भावः. **करिष्यति** इति भविष्यदर्थकप्रयोगो भाव्यर्थचिन्तायाः जायमानत्वात् तन्निवृत्त्यर्थो, नतु भूत-वर्तमानयोः भगवत्कार्यत्वानुसन्धान-व्यावृत्त्यर्थः. तेन करोति-अकार्षीत्-करिष्यति इति त्रेधापि अनुसन्धानं विवेकः इति फलति॥१॥

एवं स्वरूपं विवेकस्य निरूप्य रक्षणप्रकारं वदिष्यन्तः तत्प्रसंगेन कामनायाः तत्पूरणसाधनस्य च तन्नाशकत्वं हृदिकृत्य गजेन्द्रवद् व्रजस्थवत् प्राप्तस्यापि प्रार्थनस्य बाधकत्वं च हृदिकृत्य ततो रक्षितुं प्रार्थनस्य फलव्यभिचारित्वं युक्त्या समर्थयन्ति **प्रार्थिते वा** इति.

प्रार्थिते वा ततः किं स्यात् स्वाम्यभिप्रायसंशयात्॥
सर्वत्र तस्य सर्वं हि सर्वसामर्थ्यमेव च॥२॥

वा इति अनादरे, अभ्युपगम्य दूष्यते. **प्रार्थिते** प्रार्थनकृते **ततः** प्रार्थनातः **किं स्यात्** न किमपि इति अर्थः. नहि गजेन्द्रस्य प्रार्थनातो मोक्षदानं किन्तु स्वेच्छातः. यदि ततः स्यात्, प्रागृजन्मन्येव स्यात्,

“**जजाप परमं जाप्यं प्राग्जन्मनि अनुशिक्षितम्**” (भाग.पुरा.८।३।१) इति वाक्यात् तदानीमपि प्रार्थनस्य तुल्यत्वात् किन्तु विचारितस्य मर्यादास्थापनस्य भक्त्या तोषस्य स्वसर्वात्मत्वज्ञापनादेः च कार्यस्य जातत्वेन स्वेच्छातएव. अन्यथा “**नय मां...**” (भाग.पुरा.१०।२७।३७) इत्यत्र न अन्तर्दध्यात्. अथ अपेक्षितदानम् आपाततः प्रार्थनयैव चेद् आद्रियते तदापि कालविलम्बेन फलव्यभिचारेण च अन्यथासिद्धत्वम्. अथ सापि चेत् कथञ्चित् परिह्रियेत तर्हि सा भगवदभिप्रायनिश्चयकृता प्रार्थना, नतु स्वाम्यभिप्रायसंशयकालीना. तथा सति तत्रापि इच्छैव कारणत्वेन पर्यवस्यतीति तत्र प्रार्थनायाः व्यापारतामात्रं सेत्स्यति. संशयकालीनायास्तु तदपि न प्रत्युत अधीरत्वज्ञापकतया क्रोधोपेक्षावहतया वा बाधकत्वं च. एतेनैव भ्रमकालीनापि व्याख्यातैव. किञ्च यथा तथा अस्तु, स्वस्य जीवत्वेन अल्पज्ञत्वात् स्वमनोरथस्यापि अल्पत्वात् प्रार्थितः तावदेव दास्यति कुब्जायाइव, कुमनीषित्वं च अधिकं भविष्यति. अप्रार्थितस्तु प्रभुः अलौकिकत्वात् ततो अनन्तगुणं दास्यति. तद् उक्तं “**मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः**” (भाग.पुरा.१०।२९।१३) इति. तदेतद् उक्तं **प्रार्थिते वा ततः किं स्यात् स्वाम्यभिप्रायसंशयाद्** इति. तथाच प्रार्थनेन दाने विवेकस्य सामर्थ्यनाशः, अदाने खेदात् स्वरूपनाशः. ततो अस्माद् बाधकाद् एवं विचारेण स रक्षणीयः इति भावः. एतेन कामनायाः पूरकं साधनान्तरं कैमुतिकादेव निरस्तम्. प्रार्थनैव चेद् निष्फला, काम्यकर्माणि किमुत इति “**सुखाय कर्माणि करोति लोको न तैः सुखं वा अन्यद् उपारमं वा, विन्देत भूयः ततएव दुःखं यद् अत्र युक्तं भगवान् वदेद् न**” (भाग.पुरा.३।५।२) इति तृतीयस्कन्धे काम्यकर्मणां फलव्यभिचारस्य अनिष्टहेतुत्वस्य च विदुरेणैव दर्शितत्वात्. नच सांगाद् वैदिककर्मणः फलावश्यम्भावनियमात् फलव्यभिचारो न प्राप्तावसरः इति शंक्यं, दक्षयज्ञादिवत् सांगतायाएव दुर्घटत्वात्. इदं यथा तथा “**कर्मणां गहना रीतिः**” (त.दी.नि.२।२६८)

इत्यत्र निबन्धे प्रपञ्चितम् इति ततो अवधेयम्. ननु अस्तु एवं तथापि निन्दावाक्यात् कुब्जादावपि अभिप्रायाज्ञानादेव प्रार्थनस्य तथात्वं, ज्ञानेतु न तथा दोषः इति स्वाभिलाषपूर्त्यर्थं प्रभुः विज्ञापनीयएव इति चेद्, न इति आहुः **सर्वत्र** इत्यादि. **सर्वत्र** ब्रह्माण्डे अन्तर्बहिः च **तस्य** स्वामिनः **सर्वं** वस्तुमात्रम् अस्ति इति शेषः. **हि** इति युक्तं, क्रीडार्थत्वात् सर्वसामर्थ्यं च तस्यैव "**यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः/सर्वविद्**" (मुण्ड.उप.१।१।९) "**सर्वस्य वशी सर्वस्य ईशानः**" (बृह.उप.४।४।२२) इत्यादिश्रुतेः. तथाच यदि दित्सेत्, सर्वज्ञत्वाद् अस्मदभिलाषं ज्ञात्वा तदैव दद्यात्. यदि जीवे तत्फलानुभवासामर्थ्यं पश्येत्, तदपि विदद्यात्. तन्मनोभिलषितप्रकारेणैव स्वस्मिन्नपि तथात्वं प्रकटीकृत्य वा तन्मनोरथं पूरयेत्. एतदपि "**एवं सन्दर्शिता हि अंग हरिणा भक्तवश्यता**" (भाग.पुरा.१०।९।१९) "**गोपीभिः स्तोभितो अनृत्यत्**" (भाग.पुरा.१०।११।७) "**दर्शयन् तद्विदां लोके आत्मनो भृत्यवश्यताम्**"(भाग.पुरा.१०।११।९) इत्यादिभिः उक्तम्. एवं सत्यपि यद् न ददाति तस्माद् न दित्सति इति निश्चितम्. निश्चिते च अभिप्राये प्रार्थना न प्राप्तावसरेति न प्रार्थनीयः इति अर्थः. एतदेव अभिसन्धाय श्रीमत्प्रभुचरणैः उक्तं "**यथा वयं तदीयाः स्मः तथा सोऽपि निसर्गतो अस्मत्प्रभुः अतः चिन्ता न ऐहिके पारलौकिके**" (प्रभुचरणपत्राणि : १०।३) इति. एवं कामिकपूरकाद् रक्षणप्रकारः उक्तः ॥२॥

अतः परं कामनातो रक्षणप्रकारो वक्तव्यः, तं वक्तुम् आहुः **अभिमानः** इत्यादि.

अभिमानश्च सन्त्याज्यः स्वाम्यधीनत्वभावनात्॥

अभिमानो गर्वः. यौगिकार्थग्रहणे अभितः = उभयतो मानो

अभिमानः, स्वतः परतः च चित्तसमुन्नतिः पूजा वा. तत् सर्वम् अत्र **'अभिमानः'** इत्यनेन संगृह्यते. **चकारात्** तत्साधनादिः च. **स सम्यक्** लौकिकप्रकारेण **त्याज्यः**. तत्र हेतुः **स्वाम्यधीनत्वभावनाद्** इति. ल्यब्लोपे पञ्चमी, स्वस्य स्वाम्यधीनत्वं विभाव्य त्याज्यः इति अर्थः. कामनामूलं हि गर्वः चित्तोन्नतिः पूजा च **"अहम् ईदृशः ईदृशकुलोत्पन्नः ईदृग्भिः प्रशस्यः"** इत्याद्यनुसन्धानएव तदनुरूपा कामनादर्शनात्. तदनुत्पत्तिः निवृत्तिः च स्वाम्यधीनत्वभावनया, तद्वतां तददर्शनात्. किञ्च गर्वादिजनकस्य स्वोत्कर्षस्यापि तदधीनत्वमेव तस्य सर्वकारणत्वाद् भावनीयम्. तथा सति यथा इदं सम्पादितवान् तथा अन्यदपि सम्पादयिष्यति इति अपार्था कामना तन्मूलो गर्वादिः च इत्यादिभावनेन तन्निवार्य विवेको रक्षणीयः इति भावः. एतेन इदमपि ज्ञापितं यद् भक्तानां दासत्वाद् न स्वतो अभिमानसम्भवः किन्तु दुःसंगादिवशात्. सोऽपि दासधर्मस्य स्वाम्यधीनत्वस्य भावनात् त्याज्यः. कदाचित् प्रभुः कृपया तदधीनत्वं स्वस्मिन् प्रदर्शयेत् तथा वा सेवां कारयेत् तदापि तद्भावनात् स न कार्यः त्याज्यः च. यदि वा स्वतन्त्रेच्छत्वाद् दण्डं कुर्यात् तदा खेदोऽपि त्याज्यः इति **चकारो** अनुक्तसमुच्चायकः. अत्र हेतुवचनाद् देहाभिमाननिवृत्तिस्तु न विवक्षिता इति प्रतिभाति. अथ विवक्षिता तदा सेवनशरणागति-प्रतिकूल-देहाध्यासनिवृत्तिः ग्राह्येति न विवादलेशः. एवम् आन्तरो रक्षणप्रकारः उक्तः ॥२१/२॥

अतः परं बाह्यं वदिष्यन्तः उक्तरीत्या अभिमानत्यागेन रक्षणे तत्सिद्ध्यभिज्ञापकं भगवदाज्ञारूपम् अवान्तरफलमिव प्रदर्शयन्तः तस्यां स्वाज्ञाविरुद्धायाम् उभयतःपाशारज्जुः इति शंकामपि वारयन्तः, प्रयोजकविभागेन स्वरूपविभागेन विषयविभागेन च व्यवस्थाम् आहुः **विशेषतः** इत्यादि.

विशेषतश्चेद् आज्ञा स्याद् अन्तःकरणगोचरः ॥३॥
तदा विशेषगत्यादि भाव्यं भिन्नन्तु दैहिकात् ॥

उक्तहेतुः (स्वाम्यधीनत्वभावनात्!) हेतुपञ्चम्या अत्रापि अन्वेति, अन्यथा अस्य ग्रन्थस्य आकस्मिकता स्यात्. सेवादेः हेतुत्वपक्षेऽपि स्वाम्यधीनत्वभावनस्य तत्रापि आवश्यकत्वात् सहकारित्वम् अदण्डवारित्वमेव. तथाच तस्मात् तत्सहकृतसेवादेः **विशेषतः** श्रीमदाचार्याज्ञातो विशेषम् = आधिक्यं विषयीकृत्य वा आग्रहबोधकप्रकारतो वा दैहिकाद् आधिक्यं = वैलक्षण्यं विषयीकृत्य वा **चेद्** भगवतः **आज्ञा स्यात् तदा** तत्प्रयोजकं विचारणीयं किम् अयम् **अन्तःकरणगोचरो** नवा? अजहल्लिंगम् इदम् **अन्तःकरणम्** अभिप्रायः तस्य **गोचरः** विषयभूता अभिप्रायप्रयुक्ता नवा इति. किञ्च **अन्तःकरणस्य गोचरः** अन्तःकरणे विषयत्वेन भाता नतु स्वाप्नी नवा अन्यद्वारिका इति स्वरूपमपि विचारणीयम्. नच एवं "सकृद् उच्चारितः शब्दः सकृद् अर्थं गमयति" इति नियमभंगः इति शंक्यं, प्रायिकत्वात्. अन्यथा श्लिष्टप्रयोगोच्छेदप्रसंगात्. अतो अर्थद्वयमपि अत्र संग्राह्यम्. तत्र यदि अन्तःकरणप्रयुक्तत्वेन अन्तःकरणे भाता, स्वाप्नीप्रभृतितः उत्कृष्टत्वेन च भाता, तदा तु **दैहिकाद्** देहसम्बन्धिनो **भिन्नम्** आज्ञप्तं **विशेषगत्यादि भाव्यम्** उत्पाद्यं कार्यम् इति यावत्. तथाच अयम् अर्थः : आज्ञाविषयविचारेण तत्प्रयोजकं निश्चेयम्. यदि दैहिकविषया तदा न अभिप्रायपूर्विका किन्तु परीक्षार्था. तदा ततो अवगतं विशेषगतिसाधनादिकं न कार्यम्. यदि स्वसेवाविषया यदिवा सेवाप्रतिबन्धनिवर्तकविषया तदा साभिप्रायपूर्विका. ततः तदवगतो **विशेषः** सामग्र्यादिविषयः तादृशी **गतिः** तीर्थ-देशान्तरादिविषया **आदि**पदेन तादृशं तत्साधनं च कार्यम्. तेन बाह्यतो रक्षणम् आन्तरस्य स्वनुष्ठितत्वाभिज्ञानम् आज्ञाद्वयं विरोधपरिहारः चेति सर्वं सामञ्जस्यम्

इति भावः. पुष्टिमार्गस्य नानाविधस्यापि कृपातएव प्रकटनात्, "**सर्वधर्मान् परित्यज्य**"(भग.गीता १८।६६), "**तस्मात् त्वम् उद्धव उत्सृज्य**" (भाग.पुरा.११।१२।१४), "**भजत मा अखिलसंशयाधिम्**" (भाग.पुरा. ११।१३।३३) इत्यादिवाक्यैः शरणागतौ सेवायां च भगवत्तात्पर्यात्, "**अनन्याः चिन्तयन्तो माम्**" (भग.गीता ९।२२) इति वाक्येन भगवतएव जीवस्य अखिलनिर्वाहकत्वावगतेः च न अत्र कोऽपि शंकालेशः ॥३।१/२॥

ननु दैहिकातिरिक्तविषयायां भगवदाज्ञायां जातायां यदि तद्विरोधिनी काचिद् आपदन्तरा समागता तदा आज्ञायाः करणे निर्वाहाभावाद् आज्ञप्तासिद्धिः, अकरणे तद्भंगात् स्वामिद्रोहः इति उभयतःपाशारज्जुः इत्यतः तत्र उपायम् आहुः **आपद्** इत्यादि.

आपद्गत्यादिकार्येषु हठस्त्याज्यश्च सर्वथा ॥४॥

उक्तहेतुः अत्रापि अनुवर्तते. आपदो गतिः = प्राप्तिः **आपद्गतिः**, सा **आदौ** येषां तादृशानि यानि कार्याणि, अशक्यार्था इति यावत्, तेषु **स्वाम्यधीनत्वभावनाद् हठः त्याज्यः च** आग्रहः त्याज्यः. **चो** अप्यर्थे. अयम् आशयः : निर्वाहो हि अभिप्रायस्य लिंगम्. प्रतिबन्धकापाते निर्वाहाभावात् सा आज्ञा न अभिप्रेता, परीक्षार्थैव इति निश्चेयम्. नहि भगवतो भक्तापद् अभिप्रेता नवा कालादयः तत्र प्रभवन्ति, "**ये त्यक्तलोकधर्माः च मदर्थे तान् बिभर्मि अहम्**" (भाग.पुरा.१०।४३।४) इति वाक्यात्. अतः आपत्पराभूतायाः आज्ञायाः परीक्षार्थत्वेन अनभिप्रेतत्वाद् न उक्तदोषः. किञ्च हठे अनिष्टसम्भवात् सेवाप्रतिबन्धः पर्यवस्यति इत्यतो हठो न कार्यः इति ज्ञापनाय **सर्वथा** इति. उक्तसमुच्चयार्थः **चः**. एतेन एवंकरणे हेत्वनुसन्धानप्राबल्याद् अभिमाननाशे विवेकपोषणं, हठेतु तन्नाशः इति द्वितीयं कायिकं हठत्यागेन

करणरूपं रक्षासाधनम् उपदिष्टम्॥४॥

अथ दैहिकादिविषये व्यवस्थाम् आहुः **अनाग्रहः** इत्यादि.

अनाग्रहश्च सर्वत्र धर्माधर्माग्रदर्शनम्॥
विवेकोऽयं समाख्यातः...

सर्वत्र दैहिके तत्सम्बन्धि-सम्बन्धिनी अन्यस्मिन् च कार्ये **अनाग्रहः** कार्यः इति शेषः. **चो** अनुक्तकार्यान्तरसमुच्चायकः. तथाच स्वतःसिद्धौ अतिसुखसाध्ये च न विचारः, सायासमपि औदासीन्येन कार्यं, तेन विवेकपोषः इति भावः. अत्र (स्वाम्यधीनत्वभावनाद्!) हेत्वनुवृत्तिः बोध्या. ननु अस्तु एवं लौकिके परं वैधस्य तु सामान्याज्ञाविषयत्वाद् आग्रहः प्रसृज्येतैव इति चेत्, तत्र उपायम् आहुः **धर्म**इत्यादि. **धर्माधर्मयोः** विहित-निषिद्धयोः **अग्रं** पर्यवसितं परिणामः तस्य **दर्शनं** विचारः तत् कार्यम् इति शेषः. पौराण-स्मार्त-श्रौतानाम् उत्तरोत्तरम् उत्सर्गतो बलिष्ठत्वं, तथैव शारीरा-ऽऽत्म-भागवतधर्माणाम्. तेषु स्वयं तादृशे भगवद्धर्मे निष्ठितः तदविरोधिपरिणामकः कार्यः, इतरो न कार्यः. तथा अधर्मोऽपि म्लेच्छसम्भाषणानुसरणादिरूपो बुद्धिम् अकलुषयन् स्वधर्मनिर्वाहाय चेद् युक्त्या कार्यः, इतरस्तु न कार्यः इति. तत्रापि स्वाम्यधीनत्वभावनाद् यथा तत्सिद्धिः तथा विवेकरक्षणम् अनुसन्धेयम् इति भावः. एवं सपरिकरं विवेकं निरूप्य उपसंहरन्ति **विवेको अयं समाख्यातः** इति. **अयं** नतु अन्यो **विवेकः सम्यक्** रक्षाप्रकारोपदेशपूर्वकम् **आख्यातः** प्रमाणयुक्तिगर्भाभिः उक्तिभिः कथितः इति अर्थः॥४।१/२॥

एवं विवेकं निरूप्य अतः परं प्राप्तावसरं धैर्यं निरूपयन्ति **धैर्यन्तु विनिरूप्यते** इति.

... धैर्यन्तु विनिरूप्यते॥५॥

पूर्वोक्तरीत्या विवेकरक्षणे जिह्वोपस्थजयादिरूपस्य धैर्यस्य प्रसंगतएव सिद्धेः तन्निरूपणं न प्राप्तावसरम् इति शंकानिरासाय '**तु**'शब्दः. विवेकस्वरूपे हृदयारूढे धैर्यं स्वतएव भवेत्, परं याथात्म्येन स्वरूपे अज्ञाते अरक्षणे च कदाचित् किञ्चिद् अपेयादपि अतः तदर्थं **विशेषेण निरूप्यते** रक्षणोपायसहितं कथ्यते इति अर्थः ॥५॥

विवक्षितं धैर्यस्वरूपम् आहुः **त्रिदुःखइत्यादि.**

त्रिदुःखसहनं धैर्यम् आमृते सर्वतः सदा ॥
तक्रवद् देहवद् भाव्यं जडवद् गोपभार्यवत् ॥६॥

आमृतेः सर्वतः 'मृति'शब्दो मरणकाललक्षणो मृतिजनकं मर्यादीकृत्य सर्वस्मात् **सदा** सर्वकाले **त्रिदुःखसहनं** त्रयाणाम् आधिदैविकादिभेदभिन्नानां कायिकादिभेदभिन्नानां काल-कर्म-स्वभावजानां "**त्रैवर्गिकायासविघातम्**" (भाग.पुरा.६।११।२३) इति वृत्रवाक्यात् त्रिवर्गसम्बन्धावच्छिन्नानां च **सहनं** मर्षणम् उपेक्षणम् अप्रतीकारयुक्तो अनुभवो धैर्यम् इति अर्थः. ननु भगवदीयानाम् आधिदैविकादिदुःखसम्भावनैव नास्ति, यतः कालादयोऽपि न तद्दुःखहेतवो भवन्तीति कथं तत्सहनोक्तिः? इति चेद्, भगवता[१] धैर्यपरीक्षार्थं कालादयः तथा प्रेर्यन्ते. अतः पूर्वं भगवद्भयादेव न प्रवृत्तिः, ततः तदाज्ञया आज्ञाभंगभयात् प्रवृत्तिरपि सम्भवति. यतो भगवतैव उच्यते "**मद्भयाद् वाति वातो अयम्**" (भाग.पुरा.३।२५।४२) इत्यादि, श्रुतिः च "**भीषा अस्माद्**" (तैत्ति.उप.२।८) इत्यादि. अयं न्यायः कालादावपि तुल्यः, भगवन्नियम्यत्वस्य तत्रापि समानत्वाद् इति.

---

[१]"**दुःखदाने समर्थाः. नच चलाचलास्थेष्वेव तथा, न इतरेषु, इति वाच्यं, बाधकाभावाद्, भगवदीयत्वस्य तुल्यत्वात्. ततः कथं त्रिदुःखसहनोक्तिः इति चेद्**" इत्यधिकं कुत्रापि.

ननु भगवतः सर्वज्ञत्वेन परीक्षाकरणमपि न सम्भवति, तत् कथं परीक्षार्थं तथा करणम्? किञ्च परीक्षार्थं भक्तेषु दुःखं ददाति इत्यपि न उचितम् इति चेद्, अत्रापि वदामः : भगवति सर्वज्ञत्वादिधर्मास्तु ज्ञानादिमार्गे साधारणेच्छायां प्रकटाः, पुष्टिमार्गे विशेषरमणेच्छायां तद्रीत्यैव सर्वं करोतीति न अनुपपत्तिः. यतः "**स्वागतम्...**" (भाग.पुरा.१०।२६।-१८) इत्यादिना अन्तरंगभक्तेष्वपि परीक्षैव कृता. द्वारकालीलायामपि "**अव्यक्तलिंगं प्रकृतिषु अन्तःपुरगृहादिषु, क्वचित् चरन्तं योगेशं तत्तद्भावबुभुत्सया**" (भाग.पुरा.१०।६६।३६) इति लोकरीत्यापि तथाकरणम् उक्तम्. अपरञ्च "**मदन्यत् ते न जानन्ति न अहं तेभ्यो मनागपि**" (भाग.पुरा.९।४।६८) इति भगवता भक्तिमार्गरीत्या भक्तातिरिक्ताज्ञानं स्वस्य उक्तम्. तेन ज्ञायते भक्तिमार्गे लौकिकरीतिमेव भूयः प्रदर्शयति इत्यतोऽपि न अनुपपत्तिः काचित्. किञ्च दुःखदानस्य अयुक्ततायामपि उच्यते— साक्षात् स्वरूपात्मकाश्रयदानार्थमेव धैर्यपरीक्षा क्रियते इति बालाध्यापनार्थ-ताडनवत् पर्यवसानतः सुखरूपत्वमेवेति न उक्तशंकालेशः.

प्रकृतम् अनुसरामः. धैर्यस्वरूपम् उक्त्वा दृष्टान्तपुरःसरं तद्रक्षणप्रकारम् आहुः **तक्रवद्** इत्यादि. **भाव्यम्** इत्यस्य त्रिष्वपि अन्वयः. तक्रवतो राजकलत्रस्य देहः **तक्रवद्देहः** (तद्वत्!) तेन तुल्यं स्वदेहादौ **भाव्यम्** इति अर्थः. इयञ्च आख्यायिका "**हत्वा नृपं पतिम् अवेक्ष्य भुजंगदष्टं, देशान्तरे विधिवशाद् गणिकास्मि जाता, पुत्रं पतिं समधिगम्य चितां प्रविष्टा, शोचामि गोपगृहिणी कथम् अद्य तक्रम्**" इति श्लोके प्रसिद्धा. तथाच तया यथा स्वदेहादिपोषणसाधनीभूते तक्रे गते स्वदेहावस्थाम् अनुसन्धाय शोकाभावपुरःसरम् अप्रतीकारेण दुःखमेव सोढं तथा स्वस्य आधिभौतिक-लौकिक-साधनीभूत-धन-पुत्राद्यपगमेऽपि शोकम् अकृत्वा अप्रतीकारेण दुःखसहनार्थं तथा भावनीयम्.

वैष्णवत्वलाभानन्तरं तेषां हेयतैव यतः. अतएव निबन्धेऽपि श्रीमदाचार्यैः **"प्रतिकूले गृहं त्यजेद्"** (त.दी.नि.२।२३१) इत्यादिना त्यागएव तेषाम् उक्तः. अथवा दृष्टान्तद्वयम् इदं, तत्र पूर्वो व्याख्यातः. द्वितीयस्तु **"देहः किम् अन्नदातुः स्वं निषेक्तुः मातुरेव वा, मातुः पितुः वा क्रेतुर्वा बलिनोऽग्नेः शुनोऽथ वा"** (भाग.पुरा.१०।१०।११) इति देहः साधारणो न आत्मीयः तथा सर्वेऽपि तत्तददृष्टसम्पादितत्वात् साधारणाः इत्येवं तदर्थम् अनुसन्धेयम् इति अर्थः. भौतिक-कायिक-कर्मजार्थिकदुःखसहने दृष्टान्तः उक्तः. आध्यात्मिकसहने दृष्टान्तम् आहुः **जडवद्** इति. यथा जडभरते मुक्तिसाधनसत्त्वेऽपि तेन पूर्वं मृगशरीरप्राप्तिजन्यं, ततो भ्रातृजायादिकृतं भद्रकालिबलिदानसमयपर्यन्तं, ततो रहूगणशिबिकावाहन-सामयिकं सोढं तथा आध्यात्मिक-कालजादिदुःखं सोढुं तद्वद् भाव्यम्. किञ्च एतद्देहानन्तरं[१] साक्षात्सेवोपयोगिदेहे विप्रयोगादिदुःखेऽपि तत् सोढुं जडवद् अधुना भावनीयम् इति अर्थः. किञ्च **भाव्यम्** इत्यनेन अवश्यं भाव्यत्वमपि द्योत्यते. तेन अप्रतीकार्यत्वात् तन्निवारणार्थं यत्नो न कर्तव्यः इत्यपि सूच्यते. आधिदैविक-स्वाभाविकादिसहने दृष्टान्तम् आहुः **गोपभार्यवद्** इति. भार्याणां समूहो भार्यं, गोपानां भार्यं गोपभार्यं, तेन तुल्यं भाव्यम्. यथा अन्तर्गृहगतो गोपानां भार्यासमूहो भगवद्विरहेण अतिदुःखं सोढ्वा ततो ध्यानप्राप्त-भगवत्सान्निध्यसुखम् अनुभूय अपुण्य-पुण्योपरमे निर्गुणदेहेन भगवन्तं प्राप्तः तथा अहमपि प्रारब्धादिसम्भवम् उभयं सोढ्वा प्राप्स्यामि इति दुःखसहनार्थम् अनुसन्धेयम्. एवं प्राप्ते प्रायिकत्वनिरासाय समूहदृष्टान्तः इति सर्वं सुस्थम्॥६॥

अतः परं यदृच्छातः प्रतीकारोपस्थितौ यदि सहनाग्रहः तदा विवेकहानिः आज्ञाभंगः च, यदि तूष्णीकत्वं तदा दुःखनिवृत्त्या सहनाभावेन धैर्यहानिः आज्ञाभंगः च इति उभयतःपाशायांरज्जौ समाधानार्थम् आहुः

---

[१] **"वृन्दावनीयमृगादिभवने तदनन्तरं साक्षात् सेवोपयोगिदेहे"** इति पाठान्तरम्.

प्रतीकारः इत्यादि.

प्रतीकारो यदृच्छातः सिद्धश्चेन्नाग्रही भवेत्।।
भार्यादीनां तथान्येषामसतश्चाक्रमं सहेत्।।७।।

यदृच्छातो भगवदिच्छातः, स्वकृतोपायं विना इति यावत्. **आग्रही** इति निन्दायाम् इति, "**भूमिनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगे अतिशायने संसर्गे/सम्बन्धे अस्ति विवक्षायां भवन्ति मतुबादयः**"(पाणि.सू.सिद्धा.कौ.५।-२।९४) इति अभियुक्तोक्तेः. तथाच भगवदिच्छया सिद्धे प्रतीकारे निन्दिताग्रहवान् न भवेत्. एवञ्च अनाग्रहे अभिसन्धानाभावाद् धैर्यस्य सिद्धिः, भगवदिच्छानुसन्धानाद् विवेकस्य, आज्ञातः करणाद् आज्ञयोरपि अभंगइति सर्वं सामञ्जस्यम् इति भावः. यद्वा एवं योज्यं **जडवद् गोपभार्यवत् प्रतीकारो यदृच्छातः सिद्धः चेत् न आग्रही भवेद्** इति. तथाच यथा जडो भगवदिच्छया रहूगणेन संवदन् शिबिकावाहनार्थं न आग्रहवान् जातः, यथाच रासमण्डलमण्डनायितं गोपभार्यं विप्रयोगतापे भगवदिच्छया गुणगानस्मरणरूप-दर्शनादिरूप-प्रतीकारोपस्थितौ भगवदिच्छानुरूपमेव व्यवहृतवत् तथा स्वयमपि स्वाधिकारानुसारेण अनाग्रही भवेद् इति अर्थः. तत्समूहस्य अनाग्रहोऽपि श्रीमदाचार्यैः "**गत्या ललितया उदार...**"(भाग.पुरा.१०।४४।५२) इत्यस्य आभासे "**यदा पुनः**" इत्यारभ्य "**स्वयम् आविर्भूतः**" (सुबो.१०।४४।५२) इत्यन्तेन, "**त्वयि धृतासवः**" (भाग.पुरा.१०।२८।१) इत्यत्र "**त्वदर्थमेव**" इत्यारभ्य "**तदैव त्यक्ष्यन्ति**" (सुबो.१०।२८।१) इत्यन्तेन, "**दुस्त्यजः तत्कथार्थः**" (भाग.पुरा.१०।४४-।१७) इत्यत्र च स्फुटीकृतः. **चेद्** इत्यनेन तादृक्तापे शीघ्रं स्वाश्रयं दातुं प्रभुरेव प्रतीकारं सम्पादयति, न सम्पादयति चेद् इति स्वयं तदर्थं न यतेत. तथा सति प्रभोः अनभिप्रेतत्वेन कोपाद् वैपरीत्यापत्तिः इत्यपि सूच्यते. अतः परं कायिकं रक्षासाधनम् उपदिशन्ति **भार्यादीनाम्** इत्यादि. '**भार्यादीनाम्**'इति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः. तेन ये अत्यन्तस्वनियम्याः तेषाम् **अन्येषां** विभक्ताविभक्त-बान्धवादीनाम्

उदासीनानां च **असतो** दुर्जनस्य “**(सु)दुःसहम् इमं मन्ये आत्मनि असदतिक्रमम्**” (भाग.पुरा.११।२२।६०) इति वाक्याद् दुःसहत्वात् पृथङ्निर्देशः **एतेषाम् आक्रमं** तिरस्कारं **सहेत. आक्रमपदस्य** योगेन पादप्रहारपर्यन्तता बोध्यते. **सहेद्** इति अनुदात्तेत्वलक्षणस्य आत्मनेपदस्य अनित्यत्वात् परस्मैपदम्. ब्रह्मचारिप्रभृतीनाम् अन्येषाम् एकाकिनां च भार्याद्यभावाद् बन्ध्वभावात् च त्रितयनिर्देशः. तेषां सेवाप्रतिकूलत्वे त्यागरूपमेव सहनं, स्वविवेकमात्रप्रातिकूल्ये च तदप्रतीकारेण तिरस्कारमर्षणमेव सहनं, तद् आचरेद् इति अर्थः. अत्र उपायो निबन्धे उपदिष्टः “**सर्वं सहेत परुषं सर्वेषां कृष्णभावनाद्**” (त.दी.नि.२।२३३) इति. “**एतदन्तःस्थितः कृष्णएव अस्मान् उपदिशति**” (त.दी.नि.प्र.२।२३३) इति च व्याख्यातम्॥७॥

एवम् आक्रमसहनोपदेशे गृहस्थितिः आगता, तथा सति इन्द्रियकार्यकरणम् अर्थाक्षिप्तं, तत्र आसक्तौ च धैर्यस्वरूपस्य सामर्थ्यस्य वा नाशः इति तन्निवृत्त्यर्थं साधनान्तरं रक्षणस्य उपदिशन्ति **स्वयम्** इत्यादि.

स्वयमिन्द्रियकार्याणि कायवाङ्मनसा त्यजेत्॥
अशूरेणापि कर्तव्यं स्वस्यासामर्थ्यभावनात्॥८॥

स्वयम् इति उद्यम्य आग्रहेण इति यावद् **इन्द्रियकार्याणि** ज्ञान-क्रियाप्रधानान् भोगान् **कायवाङ्मनसा**[१] **काय-वाग्भ्यां सहितं मनः तेन सर्वात्मना त्यजेत्** क्रीडायामपि न आददीत, तेषाम् अत्यन्तबाधकत्वाद् इति अर्थः. बाधकत्वं च “**ध्यायतः विषयान् पुंसः**” (भग.गीता २।६२) इत्यादिना गीतायां स्फुटमेव. कायेन त्यागो भोग्यानुपादानं, वाचा त्यागः शुभाशुभत्वाकीर्तनं, मनसा त्यागः तन्निःस्पृहत्वम्. नच एवम्

---

[१]सर्वोऽपि द्वन्द्वो विभाषैकवत्.

उद्यम्य त्यागे आग्रहापातेन विवेकहानिः प्रसज्येत इति शंकनीयम्, आग्रहस्य उपभोग्यत्वाद्यंशएव उपक्षयेण विवेकभंगासमर्थत्वात्. ननु *स्वयं **त्यजेद्** इत्यनेन यादृच्छिकस्य अत्यागः प्राप्तः. उचितं च एतद्, अन्यथा शरीरयात्रानिर्वाहाभावेन साधनस्यापि अनुष्ठानाशक्तिप्रसंगात्. अत्यक्ते च यादृच्छिके तस्यापि विषयत्वेन बन्धनस्वभावत्वाद् इन्द्रियाणि आकर्षणीयानि. तथा सति "**इन्द्रियैः विषयाकृष्टैः**" (भाग.पुरा.४।२२।३०) इति प्रनाड्या सर्वनाशप्रसंगः. नच ततो रक्षार्थं स्वभावो विजेतुं शक्यः, आरम्भदशायां तादृक्सामर्थ्याभावात्, "**स्वभावविजयः शौर्यम्**" (भाग.पुरा.११।१९।३७)इति वाक्येन तस्य शूरकार्यत्वात्. अतः कथं धैर्यरक्षा?* इत्यतः तत्र उपायम् आहुः **अशूरेणापि** इत्यादि. स्वभावम् इन्द्रियाणि च जेतुम् असमर्थेनापि **स्वस्य असामर्थ्यं** भावयित्वा इन्द्रियकार्यत्यजनं **कर्तव्यम्**. "**किं करोमि? मन्दभाग्यो अहम् असमर्थः, एतावत्यपि आज्ञा मया पालयितुं न शक्यते!**" इत्यादि भावनीयम्. एवं प्रयतमानस्य ग्लानौ इन्द्रियाणां कौण्ठ्ये विषयैरपि तथा अनाकर्षात् क्रमेण तत्सिद्धिः इति अर्थः ॥८॥

अत्रापि अशक्तौ पुनः अन्यम् उपायम् आहुः **अशक्ये** इत्यादि.

अशक्ये हरिरेवास्ति सर्वम् आश्रयतो भवेत्॥
एतत् सहनम् अत्रोक्तम् आश्रयोऽतो निरूप्यते॥९॥

एवमपि **अशक्ये हरिरेव अस्ति** शरणम् इति शेषः. ननु एवं शरणोपदेशेन कथं तत्सिद्धिः इति आकांक्षायाम् आहुः **सर्वम् आश्रयतो भवेद्** इति. "**सर्वधर्मान् परित्यज्य**" (भग.गीता १८।६६) इति शरणोपदेशवाक्ये स्वस्यैव पापमोचकत्वकथनेन शोकनिवारणेन च आश्रयादेव सिद्धिबोधनात् तथा इति अर्थः. एवं धैर्यं सपरिकरं निरूप्य उपसंहरन्तो अग्रिमनिरूपणस्य गतार्थत्वमपि वारयन्ति **एतद्** इत्यादि. **अत्र** शरणमार्गे **एतद्** उक्तसाधनकथनान्तं (**सहनं!**) धैर्यम् **उक्तम्**.

तथाच **अशक्ये** इत्यादिना यद् आश्रयणम् उक्तं तदपि धैर्यरक्षणशेषत्वाद् धैर्यान्तःपात्येव, नतु आश्रयरूपम् इति अर्थः. अतः परं क्रमप्राप्तं प्रधानम् आश्रयं निरूपयन्ति **आश्रयो अतो निरूप्यते** इति. **अतः** तावता चारितार्थ्याभावाद् आवश्यकत्वात् च **आश्रयो निरूप्यते** इति अर्थः ॥९॥

(ननु!) 'आश्रय'शब्दः आधारे योगरूढः, सेवने यौगिकः 'आसमन्तात् श्रयणं=सेवनम् आश्रयः' इति. तत्र प्रकृते किं विवक्षितम्? इति आकांक्षायां तस्य स्वरूपम् आहुः **ऐहिके** इत्यादि.

ऐहिके परलोके च सर्वथा शरणं हरिः ॥

"**हरामि अघं हि स्मर्तॄणां हविर्भागं/इळोपहूतयोगेन हरे भागं क्रतुषु अहं, वर्णः च मे हरित् चेष्टः तस्माद् हरिः अहं स्मृतः**" (महाभा.१२।३४२।६८) इति भारते भगवद्वाक्यात् स्मर्तॄणां पाप-तत्फलयोः हर्ता सर्वदेवात्मा तन्नियामकः "**श्यामात् शबलम्**" (छान्दो.उप.८।१३।१) इति श्रुत्या स्वतः श्यामवर्णः पुरुषोत्तमो **हरिः** **ऐहिके** एतज्जन्मसम्बन्धिकार्ये फलभोगे स्वमनोभिलषित-सेवादिसाधने तत्सम्पादने च **परलोके** एतज्जन्मान्तरभाविनि जन्मनि **चकारात्** तत्र सुख-दुःखफलभोगे भगवदिच्छानुरूप-सेवादिसाधने तत्सम्पादने **सर्वथा** (**शरणं!**), "**शरणं रक्षणे गेहे वधरक्षकयोरपि**" (अनेकार्थकोश ३।२४१) इति कोशात् ततस्ततः प्रमादादिभ्यो रक्षणात्मा, तत्र-तत्र गेहात्मा, तत्तत्प्रतिबन्धनिवृत्त्यात्मा, तत्र-तत्र ततस्ततो रक्षकः च स्वयमेव अस्ति इति अनुसन्धानम् आश्रयः इति अर्थः. तेन अत्र चित्तस्य एवं भगवत्प्रवणत्वरूप-सेवाविशेषात्मा स्वीकृतः.

अन्यैरपि "**माम् आश्रित्य यतन्ति ये**" (भग.गीता७।२९), "**मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य**" (भग.गीता ९।३२) इत्यत्र चित्तसमाधानत्वेन इतरवैमुख्यपूर्वक-शरणागतित्वेन आश्रयतया ग्रहणत्वेन व्याख्यातः.

शरणागतिश्च रामानुजाचार्यैः "**तमेव शरणं गच्छ**" (भग.गीता १८।६२) इत्यत्र अनुवर्तत्वेन व्याख्यानात्. शंकरभाष्येतु "**माम् एकं शरणं व्रज**" (भग.गीता १८।६६) इत्यत्र भगवदतिरिक्ताननुसन्धानत्वेन व्याख्यातः. मधुसूदनीयेतु "**तस्यैव अहं, ममैव असौ, सएव अहम् इति त्रिधा भगवच्छरणत्वं स्यात् साधनाभ्यासपाकतः**" (भग.गीता गूढार्थदीपि.।१८।-६६) इति भक्तिपूर्वकम् एवम् अनुसन्धानत्वेन. अत्रापि एतदेव स्वीकृतं परन्तु मायावादनिरासाद् ब्रह्मवादेन अविहितभक्तेः आधिक्येन च इति विशेषः. एवंप्रकारेण सदा येषां भावो भवेत् तदा तेषां भगवता आश्रयो दत्तः इति ज्ञातव्यम्. कदाचित्कदाचिद् विच्छेदेतु साधनावस्था, कदाचिद् भवने अत्यारम्भदशा, रक्षकत्वमात्रभानेतु आश्रयस्य भावित्वम् इत्यादि उक्तम्. अयमेव आश्रयो भक्त्यधिकारिणां भक्तिं पोषयन् उत्तमः, तां जनयन् भक्तिमार्गीयः, जनयिष्यन् भक्तिमार्गानुकल्परूपः. एवमेव ज्ञानाधिकारिणां ज्ञानपोषणादि कुर्वन् तन्मार्गीयः, कर्मफलस्य वैराग्यस्य पोषणादिकं कुर्वन् तन्मार्गीयः इति ज्ञातव्यम्॥९।१/२॥

एवं स्वरूपं निरूप्य आश्रयरक्षणप्रकारम् आहुः दुःख...इत्यादि.

दुःखहानौ तथा पापे भये कामाद्यपूरणे ॥१०॥

"**एवं चित्ते सदा भाव्यम्**" (श्लो.१३) इत्यादिना अग्रिमेण अन्वयः. तथाच दुःखहान्यादौ हरिः सर्वथा शरणं भाव्यः इति अर्थाद् आर्थिके कर्मयोगे सिद्धे दुःखहानौ इत्यादौ क्वचित्-क्वचित् "**निमित्तात् कर्मयोगे**"(पाणि.सू.वा.२।३।३६) इत्यनेन सप्तमी. तेन दुःखहान्यर्थं शरणं गतस्य शरणदानाज्ञानजनितं जीवबुद्ध्या दुःखं, तद्धान्यर्थं तथा इति अर्थः. एवम् अग्रेऽपि. साम्प्रदायिकाभिप्रेते विषयसप्तमीपक्षेतु दुःखहानिविषये तथा इति अर्थः. एवम् अग्रेऽपि. दुःखनिवृत्तौ आश्रयविस्मरणाभावार्थम् उपदेशः इति श्रीरघुनाथचरणाः. भक्तिमार्गीयस्य सेवायां प्रवृत्तस्य दुःखप्रतीकाराकरणाद् दुःखहानौ धैर्येण चित्तोद्वेगादिसम्भवात्

तदभावार्थं शरणभावनमेव कर्तव्यम् इत्येतदर्थम् इति चाचागोपीशाः. गोकुलोत्सवास्तु न अत्र किमपि व्याचख्युः. एवं सर्वत्र तत्तद्ग्रन्थाद् विशेषो अवसेयः. तत्रापि भक्तिं पोषयन् सपरिकरः आश्रयो गोपीशैः विवृतः. भक्तिं जनयन् जनयिष्यन् चेति उभयविधः प्रकारभेदेन श्रीरघुनाथचरणैः गोकुलोत्सवैः च विवृतः. अत्रतु आधुनिकानां श्रीमदाचार्यमार्गप्रविष्टानामपि स्वभावभेदेन तत्तद्रुचिदर्शनात् तत्तदधिकारानुसारेण तत्फलसिद्ध्यर्थे सर्वप्रकारको दिङ्मात्रं प्रदर्श्यते इति न कोऽपि क्वापि विरोधः. **तथा पापे** इति, सेवादिप्रतिबन्धकपापे दैवाद् जाते वा भगवदपराधे वा इति अर्थः. **भये** स्वस्य जीवस्य तुच्छत्वात् कथं ब्रह्मादिदुराप-चरणरेणोः प्राप्तिः इति भये भयान्तरे च. **कामाद्यपूरणे** कामः आद्यो येषां तद्गुणसंविज्ञानो अलौकिककाम-मुख्या-ऽमुख्यगुणज्ञानात्मक-मोक्षाणां **पूरणे** पूर्त्यर्थं, कामादेः अपूरणे वा॥१०॥

भक्तद्रोहे भक्त्यभावे भक्तैश्चातिक्रमे कृते॥
अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः॥११॥

(**भक्तद्रोहे इति!**)स्वस्य कामादिपूर्तौ, तस्याः अन्यत्र अदर्शने, मदाद् अवज्ञायां, प्रकारान्तरेण वा द्रोहे. भक्तद्रोहापराधो मर्यादायामपि न दूरीकर्तुं शक्यते, यथा दुर्वासाम्बरीषयोः विषये. किम्पुनः पुष्टिमार्गे! अतः तन्निवृत्त्यर्थम् अयम् उपदेशः. (**भक्त्यभावे इति!**) स्वस्य स्वीयानां च उत्कटानुत्कट-भक्त्यनुत्पत्तौ दुःसंगादिना तन्नाशे च. **भक्तैः च अतिक्रमे कृते** तत्सहनार्थम् अयम् उपदेशः. ते विना निमित्तं सर्वथा कमपि न अतिक्रामन्ति, अथ अतिक्रामन्ति तदा स्वस्मिन् कोऽपि दोषो अस्ति ततः तन्निवृत्त्यर्थम् अयम् इति चाचागोपीशाः. **अशक्ये वा सुशक्ये वा** 'वा'शब्दो अप्यर्थः स्वकृत्यसाध्ये स्वकृतिसाध्ये च **सर्वथा** व्याख्यातप्रकारेण कायवाङ्मनोभिः वा (**हरिः!**) सर्वदुःखहर्तैव **शरणम्**. **सुशक्ये** शरणोपदेशे अहंकाराभावार्थे इति चाचाः. एवं विशेषेण अयं सर्वोऽपि उपदेशो विवेकाभावेऽपि आश्रयस्य असहायशूरत्वार्थः

इति मम प्रतिभाति ॥११॥

धैर्याभावेऽपि तथात्वार्थम् आहुः **अहंकारेत्यादि.**

अहंकारकृते चैव पोष्यपोषणरक्षणे॥
पोष्यातिक्रमणे चैव तथान्तेवास्यतिक्रमे॥१२॥

अहंकारकृते अभिमानेन कृते तद्दोषनिवृत्त्यर्थम् अभिमाननिवृत्त्यर्थं च अयम् उपदेशः. **चकारः** सर्वत्र अनुक्तसजातीय-समुच्चयार्थः, **एवकारः** उपायान्तरानुष्ठान-व्युदासार्थः. **पोष्यपोषणरक्षणे**[१] सम्भावनेन तद्रक्षणस्य लौकिकत्वात् तत्करणे स्वस्य सेवादिविघाताद् अरक्षणे भगवत्पोष्यानां क्लेशाद् उभयसामञ्जस्यार्थम् इदम्. पोषणक्रियासहित-रक्षणक्रियायां वा **पोष्यातिक्रमणे** पोष्यैः = सहनिवेदितैः कृते स्वयं वा तेषां कृते अतिक्रमणे आसुरं भावं विना तदभावात् तत्तन्निष्ठ-तन्निवृत्त्यर्थं स्वप्रयत्नत्यागार्थं च इदम्. **तथा अन्तेवास्यतिक्रमे** अत्रापि तथा. तस्मिन् स्वकृतोपकाराद्यनुसन्धानेन गर्वाद्यनिष्टसम्भवात् तन्निवृत्त्यर्थं पृथग् उपदेशः ॥१२॥

अलौकिकमनःसिद्धौ सर्वार्थे शरणं हरिः॥
एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तयेत्॥१३॥

अलौकिकमनःसिद्धौ निमित्तात् सप्तमी, "**मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं च अशुद्धमेव च, अशुद्धं कामसंकल्पं शुद्धं कामविवर्जितम्**" (ब्रह्मबिन्दु.उप.१) इति श्रुतेः कामसंकल्परहित-मनःसिद्ध्यर्थं सेवाश्रयाद्यनुकूल-मनःसिद्ध्यर्थम् इति अर्थः. **सर्वार्थे** पुष्ट्यादिमार्गीय-सकलपुरुषार्थाद्यर्थम् अतिदीनभाव-सिद्ध्यर्थो अयम् उपदेशः. **शरणं**

---

[१]"पोषितुम् आवश्यकानां पोषणं येन तत् पोष्यपोषणम् = आवश्यक-लौकिकोपयोगि-द्रव्यादि, तस्य रक्षणे" इति अधिकम् घ.पाठे.

हरिः व्याख्यातम् एतत्. एवं विषयम् उपदिश्य रक्षणप्रकारम् आहुः **एवम्** इत्यादि. चित्ते भावनेन भगवान् आश्रयं ददाति. क्षणमात्रमपि आसुरावेशाभावार्थं **सदा** इति. वाचा परितः कीर्तनेन मार्गः प्रचलति, तेन उभयोपदेशः ॥१३॥

कायिकम् आहुः **अन्यस्य** इत्यादि.

अन्यस्य भजनं तत्र स्वतो गमनमेव च।।
प्रार्थना: कार्यमात्रेऽपि तथाऽन्यत्र विवर्जयेत् ॥१४॥

अन्यस्य भगवदतिरिक्तस्य **भजनं वर्जयेद्** अन्यं देवत्वेन, कामपूरकत्वादि-दुराशया वा, न सेवेत. **तत्र स्वतोगमनमेव च** तत्कारणभूतं **तत्र** = तत्समीपे **स्वतः** = उद्यम्य **गमनं** च **वर्जयेद्** एव. "**यावद् अन्याश्रयः तावद् भगवानपि तं जनं विलोकयेद् न दयया हि अनन्यजनवत्सलः**" (. । ।) इति वाक्याद् अन्याश्रये भगवान् आश्रयमपि न दद्याद् इति ज्ञापनाय एवकारः. कौतुकार्थमपि अम्बिकालयगमने नन्दग्रासस्य उक्तत्वात् च. मध्येमार्गं सामीप्ये जाते तु अवज्ञां न कुर्याद्, भगवत्सेवकत्वावयवत्वादिकं भावयेद् इत्यपि सूचितम्. **प्रार्थनाः कार्यमात्रेऽपि वर्जयेत्**. तेन कार्यव्यामोहे भगवति प्रार्थनां कदाचित् सकृत् कुर्यादपि इति सूच्यते. श्रीरघुनाथचरणैस्तु '**प्रार्थना**'पदं प्रथमान्तं 'कार्या' इति अध्याहृत्य व्याख्यातम्. "**अपृष्ट्वा/अप्रणम्य यस्तु यां काञ्चित् क्रियां न आरभते हरिम् असम्भिन्नार्यमर्यादः तस्य तुष्यति केशवः**" (विष्णुधर्मो.पुरा.१।५८।२४) इति विष्णुधर्मीय-शंकरगीतावाक्येन उपष्टब्धं च. तथाच '**प्रार्थना**'पदं विज्ञापनमात्रपरम् इति तेषाम् आशयः. एवञ्च न पूर्वग्रन्थविरोधोऽपीति युक्ततरमेव तैः विमृष्टम्. याचनव्यवहारासाधारण-कारणीभूतः कायादिव्यापारो "**अयं ददातु**" इति अभिसन्धिपूर्वको वा सः प्रार्थना. तदकरणम् अनभिसंहितं स्वज्ञातवस्तुस्वरूपमात्रकथनं विज्ञापनम् इति तयोः स्वरूपभेदात्. उचितं च एतत्, स्वाम्यधीनत्वदाढ्येन

विवेकोपष्टम्भाद् आज्ञायाः विलम्बे धैर्यस्यापि उपष्टम्भाद् आश्रयदार्ढ्येन तस्य शीघ्रं स्वकार्यक्षमत्वसिद्धेः इति. **तथा अन्यत्र विवर्जयेद्** यथा भगवति सकृत्प्रार्थनं सर्वविज्ञापनं च तथा इतरेषु विशेषेण वर्जयेत् = तदुभयमपि सर्वथा न कुर्याद् इति अर्थः. मनसापि अविचारणं वर्जने विशेषः. एवं कायिकम् उपदिष्टम्॥१४॥

अतः परम् एतत्सर्वसिद्ध्यर्थं बाधकत्यागो अवश्यं वक्तव्यः. तम् आहुः **अविश्वासः** इति.

अविश्वासो न कर्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः॥
ब्रह्मास्त्र-चातकौ भाव्यौ प्राप्तं सेवेत निर्ममः॥१५॥

मदुक्तौ इति शेषः. आश्रये इति वा. **सर्वथा** इति स्वरूपतः फलतः च. **तुः** पूर्वपक्षनिरासकः. "**यस्य स्याद् अद्धा न विचिकित्सा अस्ति**" (छान्दो.उप.३।१४।४) इति श्रुतिम्, "**अज्ञः च अश्रद्दधानः च संशयात्मा विनश्यति**" (भग.गीता ४।४०) इत्यादिस्मृतिं च प्रमाणत्वेन आक्षिपति. तर्हि तन्निवर्तनाय उपायो वक्तव्यः इत्यतः आहुः **ब्रह्मास्त्र**...इत्यादि. ब्रह्मास्त्रं चातकः च इति उभौ अविश्वासस्य बाधकत्वे विश्वासस्य साधकत्वे च यथायथं **भाव्यौ** चिन्तनीयौ, तयोः वृत्तान्तः स्मर्तव्यः इति अर्थः. यथा लंकायां राक्षसैः ब्रह्मास्त्रेण हनुमान् बद्धः. ततः तं बद्धं निश्चेष्टम् आलोक्य तैः रज्जुभिः बद्धुम् आरब्धः. तदा तेषां विश्वासाभावं दृष्ट्वा ब्रह्मास्त्रं ततो निर्गतम्. हनुमान् मुक्तबन्धनो रज्जुबन्धनानि बभञ्ज. तेन तेषां प्रयोगप्रयासो व्यर्थो अभूत्. तथा अत्र अविश्वासे भगवानपि त्यजति भक्तिमार्गे, शरणमार्गे च प्रवृत्तिरपि वृथा भवति इति अविश्वासे दृष्टान्तः. **चातकः** पक्षिविशेषः. सच स्वातिबिन्दुम् आसाद्य आवर्षपर्यन्तं विश्वासेन तिष्ठति. तेन तस्य क्षेमं निर्वहति. पुनश्च स्वातौ पर्जन्यो वर्षत्येव. तथा अत्र श्रीमदाचार्योक्तौ विश्वासे, तथा भगवति मार्गे च विश्वासे

सर्वं सिद्ध्यति इति विश्वासे दृष्टान्तः. तथाच अविश्वासं परित्यज्य विश्वासं कृत्वा **प्राप्तं सेवेत निर्ममः** लौकिके ममतां परित्यज्य यदृच्छया प्राप्तं सुखं वा दुःखं वा तत्साधनं वा अनुभवेत्, नतु तत्र अभिनिवेशेत इति अर्थः ॥१५॥

अनभिनिवेशे लौकिकादिनिर्वाहप्रकारम् आहुः **यथाकथञ्चिद्** इत्यादि.

यथाकथञ्चित् कार्याणि कुर्याद् उच्चावचान्यपि॥
किं वा प्रोक्तेन बहुना शरणं भावयेद् हरिम्॥१६॥

उच्चानि सेवार्थानि **अवचानि** लौकिकार्थानि उभयानि उभयविधानि वा **यथाकथञ्चित् कुर्यात्** नतु ऋणादिना नापि लौकिकसम्भ्रमेण इति अर्थः. एवमपि कथञ्चित् निर्बन्धसम्भवे तत्रापि उपायम् आहुः **किंवा** इत्यादि. **बहुना प्रोक्तेन किं?** नहि यावन्तः प्रकाराः काल-कर्म-स्वभाव-संग-देशादिनिबन्धनाः आनन्त्याद् वक्तुं शक्यन्ते. तस्माद् दिङ्मात्रेण उक्तेषु यः प्रतिविधानोपायः पूर्वम् उक्तः तमेव सर्वत्र अनुसन्दध्याद् इति आशयेन अनुवदन्ति **शरणं भावयेद् हरिम्** इति. "**सर्वधर्मान् परित्यज्य**" (भग.गीता १८।६६) इत्यत्र "**तस्मात् त्वम् उद्धव**" (भाग.पुरा.११।१२।१४) इत्यत्र च भगवता तथैव निर्धारितत्वात् शरणागतेषु तेनैव निर्वाहस्य व्रजस्थेषु सत्यव्रत-सप्तर्ष्यादिषु दर्शनात् च इति अर्थः. एतेन अंगाभावेऽपि आश्रयस्य असहायशूरता निर्धारिता॥१६॥

एवं मार्गम् उपदिश्य उपसंहरन्ति **एवम्** इत्यादि.

एवम् आश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम्॥
कलौ भक्त्यादिमार्गाः हि दुःसाध्याः इति मे मतिः॥१७॥

॥ इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणविरचितः विवेकधैर्याश्रयः॥

एवम् उक्तप्रकारेण **आश्रयणं** मार्गरूपं **प्रोक्तं** प्रकर्षेण = विवेकधैर्यसाहित्येन कैवल्येन च उक्तम्. तद् इदं **सर्वेषां** वर्णाश्रमयुक्तानां तद्रहितानां च **सर्वदा** अस्मिन् युगे युगान्तरे च सम्पदापत्काले च **हितं** यथाधिकारम् उत्तमफलजनकं, "**मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य**" (भग.गीता ९।३२) "**किरातहूणान्ध्र...**" (भाग.पुरा.२।४।१८) इत्यादिवाक्येषु तथैव निर्धारात्. ननु तर्हि भगवता "**योगाः त्रयः**" (भाग.पुरा.११।२०।६) इत्यत्र त्रयएव किमिति उक्ताः? पृथग् अयं कुतः उक्तः इत्यतः आहुः **कलौ** इत्यादि. तेषां साधनसापेक्षत्वाद् एककोटौ उक्तः, अयं तन्निरपेक्षो अनुकल्परूपः च इत्यतो भिन्नतया उक्तः. एतम् भगवदाशयम्[१] अहं जानामि इति आहुः **मे मतिः** इति. तथाच एतद् ग्रन्थं मदाज्ञारूपम् अनुसन्धाय आश्रयं कुर्वतां सर्वथा भगवान् आश्रयं ददाति इति आशयः ॥१७॥

स्वरुचा तिरस्कृतपयोदरुचिं यमुनातटे रचितवेणुरवम्॥
व्रजनायकं रुचिररासकरं सततं विभावय मदीयमनः ॥१॥
विवेकधैर्याश्रयाणां विवृतिस्तु यथामति॥
कृता तेन प्रसीदन्तु स्वाचार्याः सततं मयि॥२॥
त्वदीयत्ववशाद् धाष्ट्र्याद् यद् लिखितं मयाऽत्र तत्॥
भूयात् स्वाचार्यमोदाय बालधौर्त्यं यथा पितुः॥३॥

इति श्रीमदाचार्यचरणैकतानश्रीश्यामलसुतश्रीव्रजराज-
विरचिता विवेकधैर्याश्रयविवृतिः* सम्पूर्णा

---

[१]'भगवदाश्रयम्' इति पाठो हस्ताक्षरे. अन्यपुस्तकेषु यथा स्वीकृतः तथा समीचीनो भाति.

*इयं विवृतिः स्वधर्मपितुः नाम्ना श्रीपुरुषोत्तमकृतैव अथवा स्वीयलेखनरीत्या संशोधिता इति सम्भावना दृढा.

॥ कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ॥

(श्रीव्रजराजकृतविवरणोपेतम्)

यद्वाक्यमात्रकथनात् स्वीयत्वं मनुते हरिः ॥
ते कृष्णवल्लभाचार्याः प्रसीदन्तु सदा मयि ॥१॥
तदनुग्रहतः कृष्णाश्रयस्य विवृतिर्मया ॥
विधीयते यतः कृष्णाश्रयः फलति सर्वथा ॥२॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणाः भगवदाज्ञानुसारेण जनान् उद्धर्तुं निबन्धादौ सपरिकरं भक्त्यादिमार्गान् उपदिश्य प्रत्यहं कलेः आधिक्येन तेषां दुःसाध्यत्वम् आकलय्य विवेकधैर्याश्रयग्रन्थे विवेकधैर्याभ्यां सहितम् आश्रयम् उपदिष्टवन्तः. तत्स्वरूपञ्च तत्र सर्वथा सर्वदा भगवच्छरणगमनात्मकं सिद्धम्. तथाच तत् कायिकादिभेदेन त्रिधा भवति. तत्र प्रथमं मानसं शरणं भावनात्मकं भवति. पश्चात् कायिकं तद् धैर्येण सिद्ध्यति. वाचनिकन्तु "**प्रपन्नं पाहि मां प्रभो!**" इत्यादिप्रार्थनारूपम्. एतादृशस्य भवनेऽपि कारणं भगवदनुग्रहएव इति "**सोऽहं तवांघ्रि...**" (भाग.पुरा.१०।३७।२८) इति अक्रूरस्तुतौ "**असतां दुरापं तच्चापि अहं भवदनुग्रहम् ईश मन्ये**" (भाग.पुरा.१०।३७।२८) इति स्वानुभवेन प्रतिपादितम्. शरणागतिलक्षणं च तत्रैव उक्तं "**यदि संघातम् अनुगुणं कुर्यात् त्याजयेद् वा तदा शरणागतिः सिद्धा इति ज्ञातव्यम्**" इत्यारभ्य "**सत्सेवारुचिः भगवत्स्वरूपज्ञानेच्छा भगवच्छास्त्रपरत्वं च अन्तिमजन्मज्ञापकम्**" (सुबो.१०।३७।२८) इत्यन्तेन "**अनुगुणपक्षस्तु सुगमः**" (सुबो.१०।३७।२८) इति च. एवं सति एतादृशी शरणागतिः

विवेकधैर्याश्रयोक्तरीत्यापि[1] साम्प्रतं कठिना इति भक्त्यादिमार्गाणां दुःसाध्यत्वे हेतुरपि तत्र न उक्तइति निबन्धादौ उक्तोऽपि दुर्ज्ञेयइति तदुक्तिपूर्वकं सांगां वाचनिकीं तां साम्प्रतं साधनत्वेन विवक्षन्तः कृष्णाश्रयस्तोत्ररूपेण आहुः **सर्व**...इत्यादि.

अत्र टीकारम्भे श्रीरघुनाथचरणैः ग्रन्थावतरणिका कापि न उक्ता परन्तु "**यः आविरासीद् घोरे अस्मिन् कलौ श्रीवल्लभाभिधो निजदास्यं स नो देयाद् अव्यादपि दुराश्रयाद्**"(श्रीरघुनाथकृतं कृष्णा.विव.मंग.) इति मंगलवाक्ये कलिस्वरूपस्य श्रीमदाचार्येषु प्रार्थनस्य च कथनेन सूचिता इति न विरोधः. एवं कल्याणरायैरपि कृष्णाश्रयस्य सर्वसाधकत्वं, सर्वसाधनानाम् असाधकत्वं च उक्तमिति तेषामपि अयमेव आशयः. श्लोकसंख्यातात्पर्यं तैः एवम् उक्तं "**भक्तानां भगवानेव देशादिषट्साधनरूपः चतुर्विधपुमर्थरूपः चेति, दशलीलानिरूप्यइति, दशविधभक्तसेव्यइति,**" स्तोत्रार्थरूपे भगवति दशविधाः "**दश वै पशुषु/पशोः प्राणाः**" (तैत्ति.संहि.६।३।७५) इति श्रुतेः प्राणानां दशत्वम्. ते यथा साधकाः तथा स्तोत्रमपीति शब्देऽपि दशविधाः अतो अर्थम् अनुकूलयन् शब्दएव अयं साधकः इति बोधनाय प्रार्थनाव्याजेन स्तुवन्ति इति. द्वारिकेश्वरैस्तु "**आभासः च निरोधः च**" (भाग.पुरा.२।१०।७) इति वाक्यलिखनेन नवलक्षणलक्षिततया "**यजमानपञ्चमा इडां भक्षयन्ति**" (शाब.भा.६।४।४) इतिवद् अत्र दशसंख्यापूरक-सर्वफलरूपो अत्र विवक्षितः इति आशयः उद्घाटितः. तथाच "**या-या साधनसम्पत्तिः पुरुषार्थचतुष्टये, तया विना तद् आप्नोति नरो नारायणाश्रयः**" (. । ।) इति वाक्यलिखनेन 'आश्रय'शब्दः 'कृष्णाश्रयः' इति स्तोत्रनाम इति तेषाम् आशयः.

---

[1] "विवेकधैर्याभावेऽपि आश्रयएव कर्तव्यः इति तदर्थम् आश्रयः" श्रीपुरुषोत्तमकृता १६ग्रन्थसंगतिः(सम्पा.).

ममतु अन्यदपि प्रतिभाति. यथा अक्रूरेण प्रसन्नप्रत्यक्षो भगवान् स्वाधिकारानुसारेण शरणतया प्रार्थितः तथा आचार्यैरपि स्वप्रकटित-भक्तिमार्ग-फलदानानुकूलः प्रसन्नः स्वोक्तिपठनमात्रेण आश्रयदानं कर्तुं समयविशेषे प्रार्थितः तद् 'ओम्' कृतवानिति तद् ज्ञापकम् इदं प्रार्थनाघटितं स्तोत्रम् इति.

अत्रच भगवान् गतित्वेन प्रार्थ्यते 'अस्तु' इति क्रियाध्याहारेण. तत्र 'गति'शब्दः फले रूढः, "**सा काष्ठा सा परा गतिः**" (कठोप.१।३।११), "**अन्ते या मतिः सा गतिः**" (लौकि.न्या.सा.१६६), "**न अन्या भवेद् गतिः अरिन्दम**" (भाग.पुरा.१०।२०।३०) इति श्रुति-पुराणादौ तथा प्रसिद्धेः. समाप्तौतु "**तस्य आश्रयो भवेत् कृष्णः**" (श्लो.११) इति आश्रयत्वं पाठफलत्वेन उक्तम्. 'आश्रय'शब्दः च सहाये रूढः, "**सिद्धाखिलार्थाः मधुसूदनाश्रयाः**"(भाग.पुरा.१०।५८।-४०), "**भवद्भिः अमृतं प्राप्तं नारायणभुजाश्रयैः**" (भाग.पुरा.८।११।४४) इत्यादौ तथा प्रसिद्धेः. 'कृष्ण'शब्दः च परब्रह्मवाचकः, "**'कृषिः' भूवाचकः शब्दः 'णः' च निर्वृतिवाचकः तयोः ऐक्यं परं ब्रह्म 'कृष्णः' इति अभिधीयते**"(गो.पू.ता.उप.१।१) इति तापनीयश्रुतेः, "**पापकर्षणो**" (गो.पू.ता.उप.१।१) इति च. ब्रह्मवैवर्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे श्रीरुक्मिण्युद्वाहोत्तरं श्रीयशोदां प्रति भगवद्वाक्येऽपि "**'कृषिः' उत्कृष्टवचनो 'णः' च सद्भक्तिवाचकः, 'अः' चापि दातृवचनः तेन 'कृष्णं' विदुः बुधाः 'कृषिः' च परमानन्दे 'णः' च तद्दास्यकर्मणि, तयोः दाता च यो देवः तेन 'कृष्णः' प्रकीर्तितः कोटिजन्मार्जिते पापे 'कृषिः' क्लेशे च वर्तते, भक्तानां 'णः' च निर्वाणे तेन 'कृष्णः' प्रकीर्तितः**" (ब्रह्मवैव.पुरा.४।१११।३२-३५) इति त्रिधा निरुक्तः. तत्र तृतीयेन '**पापकर्षणः**' इति तापनीयश्रुतिः उपबृंहिता. गौतमीयतन्त्रे अष्टादशार्णव्याख्यायां च "**'कृषि'शब्दः च सत्तार्थो 'णः' च**

आनन्दस्वरूपकः सुखरूपो भवेद् आत्मा भावानन्दमयत्वतः" (गौतमीयतन्त्र.-२।६९) इति. बृहद्गौतमीयेऽपि "**'कृष'शब्दो हि सत्तार्थो 'णः' च आनन्दस्वरूपकः सत्ता-स्वानन्दयोः योगात् चित् परं ब्रह्म च उच्यते**" (. । ।   ) इत्येताभ्यां पूर्वश्रुतिः उपबृंहिता. अत्र प्रथमे सर्वशब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूता 'भाव'पदेन 'आत्म'पदेन च व्याख्याता. "**रूपं यत् तत् प्राहुः अव्यक्तम् आद्यं ब्रह्म ज्योतिः निर्गुणं निर्विकारं सत्तामात्रम्**" (भाग.पुरा.१०।२७।२४) इति दशमस्कन्धवाक्येन भगवत्स्वरूपम्. तेन "**सम्बन्धिदानात् सत्तैव भिद्यमाना गवादिषु 'जातिः' इति उच्यते तस्यां सर्वे शब्दाः व्यवस्थिताः. तां प्रातिपदिकार्थं च धात्वर्थं च प्रचक्षते, सा जातिः सा महान् आत्मा ताम् आहुः त्व-तलादयः**" (वा.प.३।१।३४) इति वाक्यपदीयोक्तरीत्या मूलसद्रूपाऽभिन्नानन्दरूपत्वेन कृष्णत्वं विवृतम्. द्वितीये च प्रत्याहारन्यायेन सदानन्दयोः अन्तः चित्तं निवेश्य सच्चिदानन्दतया परब्रह्मत्वेन कृष्णत्वं विवृतम् इति भेदाः. अन्याअपि निरुक्तयो ब्रह्मवैवर्ते नामकरणप्रसंगे गर्गेण उक्ताः पञ्च सन्ति ताः ततो ज्ञातव्याः. आनन्दे च निरवधित्वमेव परमफलतावच्छेदकम् इति आनन्दमयाधिकरणे स्थितं; "**यो वै भूमा तत् सुखं, न अल्पे सुखम् अस्ति, भूमैव सुखं, भूमातु एव विजिज्ञासितव्यः**" (छान्दो.उप. ७।२३।१) इति छन्दोगश्रुतेः "**यतो वाचो निवर्तन्ते**" (तैत्ति.उप.२।४) इति तैत्तिरीयश्रुतेः च. फलं द्विविधं : साध्यम् अभिव्यंग्यं च. तत्र आद्यं यथा परशोः छिदा, द्वितीयं यथा योगाद् आत्मसुखम्. तत्र परे ब्रह्मणि आद्यरूपत्वस्य अभावाद् द्वितीयरूपतैव वाच्या. तत्र हेत्वपेक्षायां "**यमेव एषः वृणुते तेन लभ्यः**" (कठोप.१।२।२३) इति श्रुत्या स्वीयत्वेन वरणे यत् साक्षाद्दर्शनं तदेव हेतुः. तथा सति "**न अयम् आत्मा प्रवचनेन**" (कठोप.१।२।२३) इत्यादिपूर्वार्धे उपलक्षणविधया साधनान्तरनिषेधश्रावणेन वरणद्वारकं स्वस्यैव साधनत्वम् उक्तं भवति. तदेव च ब्रह्मवैवर्तोपबृंहणेष्वपि सिद्धम्.

तदेतत् सर्वं हृदि कृत्वा मूढानां सन्देहनिवारणाय अदृष्टशास्त्रानुरोधाद् मार्गाणां कालादीनां सन्निपत्य आरात् च उपकारकाणाम् असाधकत्वं दोषान् च वदन्तः उक्तरीत्या स्वस्मिन् फलरूपत्वम् अतिरोभावयित्वा तत्र साधनरूपो अस्तु इति प्रार्थयन्ति.

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि॥
पाषण्डप्रचुरे लोके कृष्णएव गतिर्मम॥१॥

सर्वे च ते मार्गाः च. "**मृजूष् शुद्धौ**" (पाणि.धा.पा.अदादि. १०९१) मृज्यन्ते शोध्यन्ते इति, "**मृग अन्वेषणे**" (पाणि.धा.पा.चुरादि. १९२४) मृग्यन्ते = तत्तत्फलार्थिभिः अन्विष्यन्ते इति मृगाः, स्वार्थे अण्, तएव मार्गाः "**योगाः त्रयो मया प्रोक्ताः नृणां श्रेयोविधित्सया ज्ञानं कर्म च भक्तिः च न उपायो अन्यो अस्ति कश्चन**" (भाग.पुरा.११।२०।६) इति एकादशे भगवता उक्ताः स्वप्राप्त्युपायाः. तेषु **नष्टेषु** अनुशास्तृदौर्लभ्यादिना तिरोहितेषु **कृष्णो** व्याख्यातरीतिको भगवानेव **मम गतिः** साधन-फलरूपो अस्तु इति सम्बन्धः. अत्र "**यस्य च भावेन भावलक्षणम्**" (पाणि.सू.२।३।३७) इत्यनेन भावलक्षणा सप्तमी. अनुशास्तृदौर्लभ्यादौ हेतुः **खलधर्मिणि कलौ लोके पाषण्डप्रचुरे** सति इति. **चः** अवधारणे. खलो = अन्तर्दुष्टो धर्मो यस्मिन् असौ खलधर्मा "**धर्माद् अनिच् केवलाद्**" (पाणि.सू.५।४।१२४) इत्यनेन अनिच्. खलधर्मत्वे हेतुः लोकानां पाषण्डप्राचुर्यम्. पाषण्डः उपधर्मो जैनदयादिसदृशः, तस्य प्राचुर्यं = बाहुल्यम्. **कलौ** इति अधिकरणे सप्तमी, आधारत्वञ्च अत्र अभिव्यापकतया कालिकसम्बन्धेन गौणौपश्लेषिकतया वा. तथाच एतादृशे कलौ ईदृशे लोके सर्वमार्गेषु नष्टेषु सत्सु तथा इति अर्थः. "**षष्ठी च अनादरे**" (पाणि.सू.२।३।३८) इत्यनेन अनादरे वा कलौ इति सप्तमी. हेतु-हेतुमद्भावस्तु समभिव्याहारादेव

लभ्यः. तथाच एतादृशे लोके एवं मार्गेषु सत्सु कलिम् अनादृत्य तद्भयं त्यक्त्वा तथा इति अर्थः. "**कलेः दोषनिधेः राजन्**" (भाग.पुरा.१२।३।५१), "**कलिं सभाजयन्ति आर्या**" (भाग.पुरा.११।५।-३६) इत्यादिवाक्येषु कलिस्तुतेः तत्र साधकत्वभ्रमवारणाय, कीर्तनस्यापि यथाकथञ्चित् कृतस्य न फलसाधकत्वम् इति बोधनाय च अत्र कलि-लोकयोः दोषकथनम्. '**कृष्ण**'पदात् 'सं'पदात् च न एतद्वाक्यविरोधः इति बोध्यम्. तथाच जलभेदोक्तरीत्या कीर्तयितॄन् निश्चित्य भगवान् आश्रयणीयः इति भावः. यद्वा तादृशे लोके मार्गेषु नष्टेषु "**वादवादान् त्यजेत् तर्कान् पक्षं कञ्च न संश्रयेद्**" (भाग.पुरा. ७।१३।७) इति सप्तमस्कन्धीय-नारदवाक्यानुसन्धानेन विवक्षितमार्गस्यैव दृढग्रहणात् कलौ तत्तन्मार्गाणां साधकत्व-तरतमभावादि-कलहे नष्टे. चकारो अत्र तन्नाशसमुच्चायकः. तथा सति तथा इति अर्थः. एवमपि बोध्यं प्रथमव्याख्यानरीतौ **कलौ सर्वमार्गेषु नष्टेषु** इति पदानां **कलौ** इत्यस्यैव वा अग्रिमश्लोकपञ्चके अनुषंगो बोध्यः. एतद्रीत्या व्याकुर्वन्तः प्राञ्चः सर्वेऽपि विशेष्यान्वितस्य **एवकारस्य** अन्ययोगव्यवच्छेदकतया अंशकलावतार-व्यवच्छेदं तेन आहुः तद् अस्माकमपि अभिप्रेतम्. श्रीरघुनाथास्तु **खरधर्मिणि** इति पाठान्तरम् उपन्यस्य खरः च असौ धर्मः च इति कर्मधारयात् मत्वर्थीय-'इन्'प्रत्ययं बहुव्रीहिविग्रहे 'क'-प्रत्ययापत्तिभिया आहुः, चकारं च कलिव्यतिरिक्त-कालसमुच्चायकम् आहुः. मायातरणे प्रपत्त्यतिरिक्त-साधनाभावस्य सर्वकालेषु तौल्याद् इति तेषाम् आशयः. प्रार्थनातु सर्वमतेऽपि अन्यार्था॥१॥

एवं कालदोषेण संगदोषं मार्गनाशं च उपपाद्य, कालस्य साधारणत्वेन देशानाम् असाधारणत्वेन तदपेक्षया अन्तरंगत्वात्, तत्रच "**काश्यादिपुर्यो यदि सन्ति लोके तासान्तु मध्ये मथुरैव धन्या, या जन्ममौञ्जीव्रतमृत्युदाहैः नृणां चतुर्धा विदधाति मुक्तिम्**" (स्कन्दपुरा.२।५।१७।४४) इत्यादिभिः

देशस्तावकवाक्यैः साक्षात्साधकत्वस्य "**देशान् पुण्यान् आश्रयेत मद्भक्तैः साधुभिः श्रितान्**" (भाग.पुरा.११।२९।१०) इत्यादिभिः वाक्यैः मार्गानुकूलतायाः च प्रतीतेः प्राप्तं तथात्वभ्रमं वारयितुं कालेन देशदोषादिकं वदन्तः आहुः **म्लेच्छेत्यादि**.

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।।
सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्णएव गतिर्मम ।।२।।

अत्रापि भावलक्षणा सप्तमी, **चः** अवधारणे, **कलौ** इति अनुषज्यते. **देशेषु म्लेच्छैः** यवनैः, उपलक्षणम् एतद्, अतितामसैः इति यावत्, तैः **आक्रान्तेषु** व्याप्तेषु. व्याप्तिः अत्र तदाज्ञाद्यनुरूपस्थितिकत्वम्. तदाज्ञानुरूपस्थितौ को दोषः इत्यतः आहुः **पापेत्यादि**. "**एके मुख्यान्यकेवलाः**" (अम.कोश ३।३।१६) तत्पुरुषगर्भः कर्मधारयः. **पापानां** व्यभिचार-चौर्य-दौर्जन्यादीनाम् **एकनिलयेषु** मुख्यस्थानेषु. तेहि लुब्धाः कामिनो हिंस्राः च, ततः तत्र व्यभिचारादिकं कुर्वन्ति, चौर्यादिकं कारयन्ति च; तदवलोकलोकाअपि पैशुन्य-शाम्भल्यादिना तथा विदधति इति एषः दोषः इति अर्थः. ननु न सर्वे तादृशाः इति न एषः दोषः इत्यतो दोषान्तरम् आहुः **सत्पीडेत्यादि**. **सतां** स्वधर्मवर्तिनां **पीडया** मिथ्याभिशाप-दण्डादिरूप-क्लेशेन **व्यग्राः** उद्विग्नाः **लोकाः** सम्यञ्चो जनाः येषु इति. एवञ्च कलिकृताः तेषु चत्वारो दोषाः उक्ताः तामसप्रभुकत्वं पापबाहुल्यं सत्पीडा सदुद्वेगः च इत्येतैः उपद्रवेण सम्यक्कर्तुम् अशक्त्या सर्वमार्गेषु नष्टेषु सत्सु **कृष्णएव** इति पूर्ववत् ।।२।।

एवं कालेन देशदोषादिकम् उपपाद्य तेषां बाह्यत्वेन जलस्य च अन्तःप्रवेश-बहिःसम्बन्धाभ्यां शोधकतया देशापेक्षयापि अन्तरंगत्वात् तत्र च "**सद्यः पुनाति गांगेयं दर्शनादेव नार्मदं**" (कूर्मपुरा.२।४०।८)

“कावेरी च महापुण्या प्रतीची च महानदी, ये पिबन्ति जलं तासां मनुजा मनुजेश्वरः, प्रायो भक्ताः भगवति वासुदेवे अमलाशयाः” (भाग.पुरा.११।५।४०) इत्यादिवाक्यैः साधकत्व-मार्गानुकूलत्वप्रतीतेः तेषु तथात्वभ्रमं वारयितुं कालेन तत्रापि दोषं वदन्तः आहुः **गंगादितीर्थवर्येषु** इति.

गंगादितीर्थवर्येषु दुष्टैरेवावृतेष्विह ॥
तिरोहिताधिदैवेषु कृष्णएव गतिर्मम ॥३॥

इह भारतवर्षे **गंगादीनि** यानि **तीर्थश्रेष्ठानि** तेषु **दुष्टैः** कर्मणा भावभेदेन च ये दूषिताः तैः **एव (आवृतेषु!)** वेष्टितेषु. अत्रापि भावलक्षणैव सप्तमी. तथाच **“किञ्च अहं न भुवं यास्ये नरा मय्या मृजन्ति अघं, मृजामि तद् अघं कुत्र राजन् तत्र विचिन्त्यताम्”** (भाग.पुरा.९।९।५) इति नवमस्कन्धे भगीरथं प्रति गंगावाक्याद् दुष्टावरणेन तेष्वपि शक्तिकौण्ठ्यदोषः इति अर्थः. ननु **“साधवो न्यासिनः शान्ताः ब्रह्मिष्ठाः लोकपावनाः हरन्ति अघं ते अंगसंगात् तेषु आस्ते हि अघभिद् हरिः”** (भाग.पुरा.९।९।६) इति तत्रैव गंगां प्रति भगीरथवाक्यात् तादृशां संगादिना तन्निवृत्तेः तस्य प्रायिकत्वात् न अयं दोषः इत्यतः आहुः **तिरोहिताधिदैवेषु** इति. देवानां समूहो दैवं, दैवे इति अधिदैवम्. देवसमूहे विद्यमानं गंगादेः देवतारूपम्. तिरोहितं अधिदैवं यस्मिन् तत् **तिरोहिताधिदैवम्**. तथाच देवसंसदि विद्यमानं यद् गंगादेः आधिदैविकं रूपं तत्तिरोधानाद् शक्तिकौण्ठ्य-तादवस्थ्यम् इति अर्थः. यद्वा तिरोहितः आधिः यस्य तत् **तिरोहिताधि,** तादृशं **दैवं** देवसमूहो येषु इति. **“तत् तेषां न प्रियं यद् मनुष्याः विद्युः”** (द्रष्ट.बृह.उप.१।४।१०) इति **“विप्रस्य वै संन्यसतो देवाः दारादिरूपिणः विघ्नं कुर्वन्ति अयं हि अस्मान् आक्रम्य समियात् परम्”** (भाग.पुरा.११।१८।१४) इति

श्रुतिस्मृत्युक्त-दिशा मनुष्यमुक्तिः तेषां न प्रिया इति तन्निवृत्त्यर्थं वाराह-पाद्मादौ मुक्त्यभावाय भगवत्प्रार्थनावद् अत्र तीर्थादौ दुष्टेषु आविश्य प्रतिबध्नन्तः तिरोहिताधयो भवन्ति. अतः शक्तिसद्भावेऽपि दोषतादवस्थ्यम् अतः **कृष्णएव** इति पूर्ववद् इति अर्थः. एतेन "**तीर्थादावपि या मुक्तिः कदाचित् कस्यचिद् भवेत् कृष्णप्रसादयुक्तस्य न अन्यस्य इति विनिश्चयः**" (त.दी.नि.१।४७) इति निबन्धोक्तौ युक्तिरपि प्रत्यक्षादिरूपा दर्शिता॥३॥

अतः परं "**नहि अम्मयानि तीर्थानि न देवाः मृच्छिलामयाः, ते पुनन्ति उरुकालेन दर्शनादेव साधवः**" (भाग.पुरा.१०।४५।३१) इति वाक्यात् तदपेक्षया अन्तरंगत्वेन, तेषां च संगस्य "**प्रसंगम् अजरं पाशम् आत्मनः कवयो विदुः, सएव साधुषु कृतो मोक्षद्वारम् अपावृतम्**" (भाग.पुरा.३।२५।२०), "**सतां प्रसंगात्**" (भाग.पुरा.३।२५।२५), "**सन्तः एतस्य छिन्दन्ति**" (भाग.पुरा.११।२६।२६), "**सत्संगेन हि दैतेयाः**" (भाग.पुरा.११।१२।३) इत्यादिवाक्यैः साधकत्व-मार्गानुकूलत्वप्रतीतेः तत्र तथात्वभ्रमं वारयितुं कालकृतं सत्सु दोषं वदन्तः आहुः **अहंकारे**-त्यादि.

अहंकारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु॥
लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्णएव गतिर्मम॥४॥

अत्र "**अर्हाणां कर्तृत्व**" (पाणि.सू.वा.२।३।३७) इत्यनेन तद्वैपरीत्ये सप्तमी. कलौ **सत्सु** मार्गप्रचारकेषु पुरुषेषु **अहंकारेण** स्वपाण्डित्याभिमानेन **विशेषतो मूढेषु** सत्सु. तथात्वे गमकद्वयम् आहुः **पाप**...इत्यादि. **पापाः** पापकर्तारो राजसाः तामसाः च म्लेच्छादयः तद्-**अनुवर्तिषु** तदुपजीविकेषु. अक्रूरादेः कंसाद्यनुवृत्तिवद् अनुवर्तित्वेऽपि

अदोषः इति तद्व्यावृत्त्यर्थं विशेषणान्तरं **लाभ...**इत्यादि. **लाभो** द्रव्यादेः, **पूजा** उन्नतिः. **अर्थ**शब्दो द्वन्द्वान्ते श्रुतः प्रत्येकं सम्बध्यते. तेन तदर्थं **यत्नो** बाह्याभ्यन्तरः उद्यमो येषाम् इत्येतद्द्वयं विमूढत्वज्ञापकम्. तथाच मार्गप्रचारकेषु एतादृशेषु जातेषु सताम् अभावात् संगो दुरापास्तः इति सर्वमार्गेषु नष्टेषु **कृष्णएव** इति पूर्ववत्॥४॥

अतः परं सतां दुर्मिलतया तदपेक्षया मन्त्रसाधनजपादेः स्वमात्रसाध्यतया अन्तरंगत्वात् तत्रच "**परिहाय्यापि वेदान् त्रीन् कर्माणि विहितानि च गायत्रीमात्रम् आश्रित्य द्विजो भवति निर्भयः गायत्रीहीनवेदास्तु सांगाअपि च निष्फलाः**" (द्रष्ट.अद्वै.मंज.शिव.त.वि.५५), "**सर्वेषु वर्णेषु तथा आश्रमेषु नारीषु नानाद्वयजन्मगेषु/नानाषु यजन्मखेषु दाता फलानाम् अभिवाञ्छितानां द्रागेव गोपालकमन्त्रः एषः**" (नार.पुरा.३।१।१३) इत्यादिवाक्यैः तत्तन्मन्त्राणां तथात्वप्रतीतेः तेषु तथात्वभ्रमं वारयितुं तत्रापि कालेन दोषं वदन्तः आहुः **अपरि...**इत्यादि.

अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु॥
तिरोहितार्थदेवेषु कृष्णएव गतिर्मम॥५॥

अपरिज्ञाननष्टेषु इत्यत्रापि पूर्ववद् अनुषंगो भावलक्षणा सप्तमी च. "**मन्त्रस्य च परिज्ञानम्**" (भाग.पुरा.११।२१।१५) इति एकादशे भगवद्वाक्यात् परिज्ञानेन मन्त्रशुद्धिः. परिज्ञानं नाम गुरूपसत्त्यादिना विधान-न्यास-पाठार्थ-तात्पर्य-विनियोगादीनां निर्धारः. तदभावो **अपरिज्ञानं,** तेन **नष्टेषु** स्वरूपस्य श्रावणत्वेऽपि शुद्ध्यभावेन "**उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचम्**" (ऋक्संहि.१०।७१।४) इतिवद् अदृश्यमानेषु. क्वचित् कस्यचित् परिज्ञानदर्शनाद् दोषान्तरम् आहुः **अव्रतयोगिषु** इति. "**अव्रताः वटवो अशौचाः**" (भाग.पुरा.१२।३।३३) इति द्वादशस्कन्धे

कलिधर्मेषु उक्तेः मन्त्रोपाकरणदशायामेव गुरुकुलावास-ब्रह्मचर्या-ऽध्ययन-धर्मपरिपालनाभावाद् **अव्रतेषु योगः** सम्बन्धो येषां तादृशेषु. तेन दोषान्तरमपि आहुः **तिरोहितार्थदेवेषु** इति. **तिरोहितौ** अप्रतीयमानौ **अर्थः** प्रयोजनं तात्पर्यं च **देवो** अधिष्ठात्री देवता तौ येषाम्. "**यः एनं शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेद् जायेरन् शाखाः प्ररोहेयुः पलाशानि**" (बृह.उप.६।३।९) इत्यादिश्रुतिप्रभृत्युक्त-निदर्शनव्यभिचारेण तदुभयतिरोभावस्य स्फुटत्वात् न तेषाम् इदानीं साधकत्वं न वा मार्गानुकूलत्वम् अतः **कृष्णएव** इति पूर्ववत्॥५॥

अतः परं मन्त्रापेक्षयापि स्वधर्माणां व्रतानाम् आचारस्य च पूर्वोक्तदोषाभावेन सुकरत्वेन च अन्तरंगत्वात्, तत्रच "**स्वधर्मस्थो यजन् यज्ञैः अनाशीः कामः उद्धव, न याति स्वर्ग-नरकौ यदि अन्यद् न समाचरेद्, इह लोके वर्तमानः स्वधर्मस्थो अनघः शुचिः, ज्ञानं विशुद्धम् आप्नोति मद्भक्तिं च यदृच्छया**" (भाग.पुरा.११।२०।११) इति एकादशस्कन्धीयैः, "**केदारे च उदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते, तथाच एकादशी हि एका/पार्थ गर्भवासक्षयंकरी एकादशीसमं पुण्यं न भूतं न भविष्यति**" (पद्म.पुरा.६।३८।३८-३९) इत्यादिभिः पुराणान्तरीयैः भगवद्वाक्यैः, "**आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुः अच्युतः**" (महाभा.१३।१४९।१३९) इत्यादिभिः भारतीयैः च वाक्यैः धर्म-व्रतादीनां साधकत्वादिप्रतीतेः तेषु तथात्वभ्रमं वारयितुं तेष्वपि कालेन दोषं वदन्तः आहुः **नाना**...इत्यादि.

नानावादविनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु॥
पाषण्डैकप्रयत्नेषु कृष्णएव गतिर्मम॥६॥

नानाप्रकारकाः ये वादाः स्वरूप-फलादिविषयकाः तैः **विशेषेण**

स्वरूपेण फलादिना च **नष्टेषु** तिरोहितेषु. तत्र स्वरूपतो नाशो वेदबाह्यानां वादाद् "**यावद् जीवेत् सुखं जीवेद्**" (सर्व.दर्श.चार्वाक.), "**अग्निहोत्रं त्रयीतन्त्रं त्रिदण्डं भस्मपुण्ड्रकं प्रज्ञापौरुषनिःस्वानां जीवो जल्पति जीविका**" (नैषधीयचरित्रम्.१७।३९) इत्यादिरूपात्. फलतो नाशस्तु[१] यथा एकादशीव्रतादौ "**शुक्रेण मोहिताः विप्राः दैत्यानां कारणे भुवि, तुष्ट्यर्थं दशमीविद्धं कुर्वन्ति मम वासरम्**" (पद्मपुरा. । ।) इति पाद्मे, "**पुरा देवैः ऋषिगणैः स्वपदच्युतिशंकया, सप्तमीवेधजालेन गोपितं च अष्टमीव्रतम्**" (स्कन्दपुरा. । ।) इति स्कान्दे, अन्यत्र च निषेध-निन्दादेः वेधस्वरूपनिर्णयस्य च विद्यमानत्वेऽपि तद् अनादृत्य स्व-स्वाग्रहेण वाक्याभासान् न्यायाभासान् च समुदाहृत्य निर्णयन्ति[१] तादृशस्थले बोध्यः. एवं स्वधर्माचारयोरपि विप्रतिपत्त्या फलतो नाशो बोध्यः. वादे प्रयोजकम् आहुः **पाषण्ड...**इति. **पाषण्डेन** दम्भेन **एको** अन्यः **प्रयत्नः** उद्यमो येषाम् इति. सच "**वेश्यावेश्मसु सीधुगन्धिललना-वक्त्रासवामोदितैः, नीत्वा निर्भरमन्मथोत्सवरसैः उन्निद्रचन्द्र-क्षयाः, सर्वज्ञाः इति दीक्षिताः इति चिरात् प्राप्ताग्निहोत्राः इति, ब्रह्मज्ञाः इति तापसाः इति दिवा धूर्तैः जगद् वञ्च्यते**" (प्रबो.चन्द्रो.२।१) इतिवद् बोध्यः. अतः एवं भूयो दर्शनात् स्वधर्म-व्रतादीनामपि न स्वतःसाधकत्वं नवा मार्गानुकूलत्वम् अतः **कृष्णएव** इति पूर्ववत्. एवं षड्भिः भक्त्यादिमार्गाणां दुःसाध्यताज्ञापनाय कालकृत-सर्वसन्मार्गनाश-बोधनमुखेन आश्रयणस्य उपायत्वं साधितम्॥६॥

तद् इदं तदा दृढीभवति यदा भगवान् आश्रिते स्वमाहात्म्यम् अनुभावयति. तदर्थम् आहुः **अजामिलादि...** इति.

अजामिलादिदोषाणां नाशकोऽनुभवे स्थितः॥
ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्णएव गतिर्मम॥७॥

अजामिलादि...इति. **अजामिलः** षष्ठस्कन्धे प्रसिद्धो दासीपतिः ब्रह्मबन्धुः. **'आदि'**पदेन गजेन्द्रा-ऽहल्याद्याः, नृसिंहपुराणे नवमाध्याये मार्कण्डेयमृत्युप्रसंगे उक्ताः नारकिणः च. तेषां ये **दोषाः** इहजन्मनि पूर्वजन्मनि च कृतानि पापानि तेषां **नाशकः**. एतेन तादृशमाहात्म्ये तदनुभावने च शब्दः प्रमाणम् उक्तम्. प्रत्यक्षम् आहुः **अनुभवे** इत्यादि. **अनुभवे** अस्माकं **स्थितो** विषयीभूतो **ज्ञापितसमग्रमाहात्म्यः**. एतेन प्रपन्नस्य मायातरणे सति प्रतिबन्धकाभावात् स्वयमेव अग्रे माहात्म्यं गोचरीभवति इति ज्ञापितम्. ततश्च पूर्वम् आर्षे शब्दे श्रीमदाचार्यचरणोक्तौ वा उभयत्र वा विश्वस्य भगवदाश्रयणे भगवानेव साधनान्तरापेक्षां विना सर्वं ज्ञापयन् तद्गोचरो भवति इति सूचितम्. **कृष्णएव** इति पूर्ववत्. एवम् अत्र शब्द-प्रत्यक्षाभ्यां पूर्वोक्तश्रुति-ब्रह्मवैवर्तादिरीत्या भगवानेव पुष्टिमार्गीयाणां साधनम् इति साधितम्॥७॥

अतः परं पूर्वोक्तश्रुति-गौतमीयतन्त्रोक्तरीतिकं भगवतः फलत्वं साधयन्ति **प्राकृताः** इत्यादि.

प्राकृताः सकलाः देवाः गणितानन्दकं बृहत्॥
पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात् कृष्णएव गतिर्मम॥८॥

देवाः "**अष्टौ वसवः एकादश रुद्राः द्वादश आदित्याः...इन्द्रः चैव प्रजापतिः च इति त्रयस्त्रिंशौ**" (बृह.उप.३।९।२) "**अग्निः देवानां अवमो विष्णुः परमः तदन्तरेण सर्वा अन्याः देवताः**" (ऐत.ब्रा.१।१) इति अग्न्यादयो विष्ण्वन्ताः. अत्र विष्णुः कालः. "**स विष्ण्वाख्यो अधियज्ञो असौ कालः कलयतां प्रभुः**" (भाग.पुरा.३।२९।३८) इति वाक्यात्, तदन्ताः वा. "**अकारं ब्रह्माणं नाभौ...उकारं विष्णुं हृदये...मकारं**

रुद्रं भ्रूमध्ये'' (नृ.उ.ता.उप.३) इति प्रणवमात्राधिष्ठातारो, विश्वादयो वा प्रजापत्यन्ताः, शतानन्दिनो वा. ते **सकलाः** कला = अंशः तत्सहिताः सर्वे **प्राकृताः** प्रकृतिः = माया **''मायान्तु प्रकृतिं विद्याद्''** (श्वेता.उप.४।-१०) इति श्रुतेः तदधीनाः. कालस्य क्षोभकतया गुणानुरोधित्वेन गुणाधिष्ठातॄणाम् अभिमानित्वेन च प्राकृतत्वम्. बृहद् अक्षरं **गणितानन्दकं** गणितः, **''स एको मानुषः आनन्दः''** (तैत्ति.उप.२।८) इति आरभ्य शतानन्दिनां गणने **''स एको ब्रह्मणः आनन्दः''** (तैत्ति.उप.२।८) इति उत्तरावधौ ब्रह्म गणितम्, अतः एवं संख्यातः आनन्दो यत्र, स्वार्थे कः, तादृशम्. तेन तुरीयकोटिनिविष्टाः **''ॐकारं सर्वेश्वरं द्वादशान्तः''** (नृ.उ.ता.उप.३) इत्याद्युक्ताः गुणावताराअपि तत्रैव प्रविशन्ति इति बोधितम्. **हरिः** पुरुषोत्तमो **''अक्षरात् परतः परः''** (मुण्ड.उप.२।१।२), **''स उत्तमः पुरुषः''** (छान्दो.उप.४।१२।३), **''अतो अस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः''** (भग.गीता १५।१८) इत्यादि-श्रुतिस्मृति-प्रतिपाद्यः **पूर्णानन्दः**. शतानन्दसंख्याने ब्रह्मानन्दस्य सर्वपरत्वेन गणनया मनोवाग्गोचरतामेव प्रतिपाद्य तदुत्तरानुवाके **''यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह, आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन इति''** (तैत्ति.उप.२।४) इति श्रुतौ आनन्दस्य मनोवागगोचरत्व-कथनेन तदपेक्षया आधिक्यस्य अनवधित्वस्य च बोधनात् तथा. तस्माद् आनन्दे निरवधित्वस्यैव परमफलतावच्छेदकत्वेन तस्य च अत्रैव विश्रान्तेः **कृष्णः** पूर्वोक्तरीतिको **मम (गतिः !)** परमफलरूपो अस्तु इति पूर्ववत्. एवम् अष्टभिः भगवत्स्वरूपविचारेण आश्रयएव सर्वथा साधको, नतु अन्यः कोऽपि मार्गः साधकः इति साधितम्॥८॥

अतः परम् आश्रयस्यापि सांगस्यैव साधकता विवेकधैर्याश्रये सिंद्धा इति तदंगाभावेऽपि यथा स फलं साधयति तम् उपायं वदन्तः आहुः **विवेक**...इत्यादि.

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः ।।
पापासक्तस्य दीनस्य कृष्णएव गतिर्मम ।।९।।

सर्वदुःखहर्ता भगवान् स्वेच्छातः सर्वं करिष्यति इत्येतद्विचारपूर्वकम् अनुसन्धानं **विवेकः**, सात्त्विकादीनां कायिकादीनां भौतिकादीनां त्रिविधदुःखानां प्रतीकाराऽनाचरणेन उपेक्षणं **धैर्यं**, माहात्म्यज्ञानपूर्वकः सुदृढः स्नेहो **भक्तिः** नवविधा च, **'आदि'**पदेन तदंगानि सांगे ज्ञान-कर्मणी च; तैः **रहितस्य.** एतेन यावत्साधनराहित्यं सूचितम्. बाधकसत्ताम् आहुः **विशेषतः पापासक्तस्य** इति. आसक्तिः = संगातिशयो, अपरिहार्यः संगः इति यावत्. एतावता **"नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते"** (स्कन्दपुरा.५।१।६३।२७) इति वाक्यस्मारणाद् भक्त्युत्पत्तौ प्रतिबन्धकमपि सूचितम्. एवं बाधकद्वयसद्भावेऽपि येन अंगेन आश्रयस्य सिद्धिः तद् आहुः **दीनस्य** इति. एवं साधकाभाव-बाधकसद्भावाभ्यां जातया ग्लान्या दीनस्य. दौर्गत्यादेः अनोजस्त्वं दैन्यम्. अनोजसः एतादृशस्य **कृष्णएव** इति पूर्ववत्. एवंप्रकारिकायाः ग्लानेः असतां दुरापत्वात्, सतां मार्यादिकानां ग्लानौ साधनान्तरेषु प्रवृत्तेः, अत्रतु तादृशग्लानि-प्रपत्तिभ्यां तदुभयविलक्षणतया **"सोऽहं तवांघ्रि..."** (भाग.पुरा.१०।३७।२८) इत्यत्र उक्तानुग्रहस्य स्वस्मिन् कारणत्वेन सत्ता ज्ञाप्यते. एतादृशस्यापि फलसिद्धिः गीतायां **"मांहि पार्थ व्यपाश्रित्य"** (भग.गीता ९।३२), **"अपि चेत् सुदुराचारः"** (भग.गीता ९।३०) इत्यत्र भगवता आज्ञप्ता. नच पूर्ववाक्ये पापयोनीनां गतिः उक्ता नतु पापकर्मणां, द्वितीये च अनन्यभजनेन पापकर्मणां साधुत्वम् उक्तम् नतु आश्रयेण इति न एतद्द्वयम् आश्रयेण सिद्धेः गमकम् इति शंक्यं **"सकृदेव प्रपन्नो यः (दयां कुरु प्रपन्नाय) तवास्मि इति च यो वदेद् अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाति एतद् व्रतं हरेः"** (गरु.पुरा.१।१२७।११) इति गारुडात्, **"सकृदेव प्रपन्नो यः तवास्मि इति च यो वदेद, अभयं सर्वभूतेभ्यो ददामि एतद् व्रतं मम"** (रामा.६।१८।३३) इति पुराणान्तरीय-भगवद्वाक्यात्

च भगवतः तादृशे व्रते निश्चिते ततो भगवदनुग्रहेणैव तत्र प्रवृत्तावपि माहात्म्यज्ञानपूर्वक-स्नेहस्यैव द्वारत्वनिश्चयाद् अनन्यभाक्त्वसिद्ध्या द्वितीयस्य **"अनित्यम् असुखं लोकम् इमं प्राप्य भजस्व माम्"** (भग.गीता ९।३३) इति भजनशेषतया निरूपितत्वेन प्रथमस्य च अञ्जः स्यात्. अतो न अत्र कोऽपि चोद्यावसरः. एवं नवभिः विवेकधैर्याश्रयग्रन्थोक्तांगाभावेऽपि एतदुक्तरीतिक-दैन्येनापि आश्रयसिद्धिः इति बोधितम्॥९॥

अतः परम् एतस्यापि अंगस्य अभावे द्वाभ्यां साधनान्तरम् आहुः **सर्वसामर्थ्य**...इत्यादि.

सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत्॥
शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम्॥१०॥

"परास्य शक्तिः विविधैव श्रूयते" (श्वेता.उप.६।८) इत्यादिश्रुतिभिः कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुं च यावन्ति **सामर्थ्यानि तत्सहितः**. तद् उपपादितम् **"अजामिलादि"**(श्लो.७) इति पद्येन. **"एतस्यैव आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्राम् उपजीवन्ति"** (बृह.उप.४।३।-३२), **"एष हि एव आनन्दयाति"** (तैत्ति.उप.२।७) इत्यादिश्रुतिभिः **सर्वत्र** देशेषु जीवेषु च अखिलार्थानां कृद् **"आक्वेः तच्छील-तद्धर्म-तत्साधुकारिषु"** (पाणि.सू.३।२।१३४) इत्यनेन ताच्छील्ये 'क्विप्' कर्ता एतादृशं **कृष्णम् अहं** जगदुद्धारार्थम् आज्ञप्तो वैश्वानरः आचार्यवर्यः **शरणस्थानां** शरणमार्गवर्तिनां **समुद्धारं** सम्यग् आज्ञप्तमार्गप्राप्य-परमफलपर्यन्तम् उद्धारं **विज्ञापयामि**. सामानाधिकरण्याद् अध्याहारानाक्र-मात् च प्रथमान्तद्वयम् 'अहं'पदस्यैव विशेषणं वा. तथाच तादृशदैन्याभावेऽपि मयि विश्वासेन एतच्छरणमार्गस्थितौ श्रीमदाचार्यचरण-कृपयैव अस्माकम् उद्धारः इति निश्चयदार्ढ्येऽपि तत्कृतं साधनान्तरम्

अनपेक्ष्य मद्विज्ञापनादेव उद्धरिष्यति इति अर्थः ॥१०॥

अतः परम् एतन्निश्चयदार्ढ्यगमकं वदन्तो विज्ञापनप्रकारं स्वरूपं च आहुः **कृष्णाश्रयम्** इत्यादि.

कृष्णाश्रयम् इदं स्तोत्रं यः पठेत् कृष्णसन्निधौ ॥
तस्याश्रयो भवेत् कृष्णः इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत् ॥११॥

॥ इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणविरचितं कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ॥

कृष्णः आश्रीयते अनेन इति, कृष्णः आश्रयो = विषयो यस्य इति वा **कृष्णाश्रयम्**. 'आश्रय'पदस्य विषयवाचकत्वं प्रह्लादचरित्रे "**यत् तत्र गुरुणा प्रोक्तं शुश्रुवेऽनुपपाठ च न साधु मनसा मेने स्वपरासद्गृहाश्रयम्**" (भाग.पुरा. ७।५।३) इति सप्तमे अन्यत्र च प्रसिद्धम्. एतद् अन्वर्थनामकम् **इदम्** उक्तं **स्तोत्रं यः कृष्णसन्निधौ** भगवन्निकटे **पठेत् तस्य कृष्णः आश्रयः** सहायो **भवेद् इति** इमम् अर्थं **श्रीवल्लभो अब्रवीद्** उक्तवान् इति. तथाच एवम् एतत्पाठएव पूर्वोक्तनिश्चयदार्ढ्य-गमकः इति अर्थः. एवञ्च विवेकधैर्याश्रयोक्त- रीतिकविवेकादेः अभावे दैन्यपूर्वकमेव एतत्स्तोत्रार्थानुसन्धानपूर्वकं भगवत्सन्निधौ एतत्स्तोत्रपा-ठः, तत्रापि अनधिकारे श्रीमदाचार्यचरणविश्वासपूर्वकं भगवत्सन्निधौ पाठः इति साधनद्वयं मानसवाचनिक-केवलवाचनिक-शरणागतिरूपं निर्दिष्टम् ॥११॥

इदं प्राचां रीतिम् अनुसृत्य व्याख्यातम्. ममतु अन्योऽपि अर्थः स्तोत्रस्य प्रतिभाति. तथाहि अयं मार्गो अविहितभक्तिरूपः. अत्र भगवान् रसात्मकः प्रतिपन्नः. एवं सति तदधिकारिष्वेव मन्दमध्यम-विचारेण अत्र साधनोपदेशो वक्तव्यः. अतएव विवेकधैर्याश्रयसमाप्तौ "**भक्त्यादिमार्गाः**" (वि.धै.आ.१७) इति उक्तम्. अन्यथा एकादशे "**योगास्त्रयो**

मया'' (भाग.पुरा.११।२०।६) इत्यत्र ''**ज्ञानं कर्म च भक्तिः च**'' इति त्रितयान्ते निवेशितायाः भक्तेः आदित्वकथनं विरुद्धं स्यात्. अतो अत्र 'भक्ति'पदे न तत्परामर्शः किन्तु ''**अथ एतत् परमं गुह्यम्**'' (भाग.पुरा.११।११।४९) इत्यत्र उक्तायाः. तथा सति सा 'भक्तिः आदिः येषां' तादृशाः ये 'मार्गाः' अविहितभक्तेरेव प्रकारभेदाः बालादिभावेन भजनरूपाः ते यतो 'दुःसाध्याः' इति अर्थो भवति. एवं सति तत्र-तत्र अनधिकारे विवेकधैर्याश्रयोक्तरीतिकः आश्रयः. अतएव ''**स्वाम्यभिप्रायसंशयाद्**'' (वि.धै.आ.२), ''**गोपभार्यवद्**'' (वि.धै.-आ.६) इति 'स्वामि'पदं तद्दृष्टान्तः च संगतौ भवतः. अतः परं तत्रापि अनधिकारे इदं स्तोत्रपठनमपि तस्यैव अनुकल्परूपम्, एतन्मार्गप्रविष्टानाम् अतिजघन्यतमाधिकारिणाम् एतन्मार्गफलसम्बन्धो यया प्रणाड्या भवति ताम् अनुसन्धाय अस्य उक्तत्वात्.

तदर्थं स्वस्वरूपं भगवत्स्वरूपं च वक्तव्यम्. तत्र भगवत्स्वरूपं तु उक्तमेव. किञ्च अभेदवादानुरोधेन रसस्वरूपविचारे रसालम्बनद्वयाभिन्न-रसात्मा स्वयं भवति. उपबृंहितञ्च इदं ब्रह्मवैवर्तीय-श्रीकृष्णजन्मखण्डे गर्गवाक्येषु ''**वर्धते सा व्रजे राधा शुक्ले चन्द्रकला यथा श्रीकृष्णतेजसो अर्धेन सा च मूर्तिमती सती, एका मूर्तिः द्विधा भूता भेदो वेदे निरूपितः, इयं स्त्री स पुमान् किंवा सा वा कान्ता पुमान् अयम्**'' (ब्रह्मवै.पुरा.४।१३।९७-९८) इति, ''**पिता अहम् अस्य जगतो माता**'' (भग.गीता ९।१७) इति गीतायां च. तथा सति आचार्याणामपि ''**वैश्वानराद् वाक्पतेः**'' (सुबो.१।१।०।का. ५), ''**वस्तुतः कृष्णएव**'' (वल्लभाष्ट. ८) इति च वाक्यद्वयविचारे पूर्वोक्तरीत्या उभयमुखारविन्दा-त्मकत्वम् उभयात्मकत्वं च सिद्ध्यति. किञ्च सप्तश्लोक्यां सर्वोत्तमे च ''**श्रीभागवतप्रतिपद...**'' (स्फु.स्तो.२) इत्यादि ''**तत्सारभूतरासस्त्रीभा-वपूरितविग्रहः**'' (सर्वो.स्तो.१६) इति च उक्तम्. एवं स्वरूपे निश्चिते

यदा यद्भावेन यान् प्रति यथा वदन्ति तदा तदधिकारिणः प्रति तानि साधनानीति पुंस्तोत्रमपि एवं व्याख्यायते तदापि न दोषः. तथा सति अस्य अर्थस्य गुप्ततया भगवतः परोक्षप्रियत्वेन च अत्र परोक्षवादाद् लक्षणापि अदुष्टैव.

ततः च अयम् अर्थः :

(१).तथाहि **सर्वमार्गेषु** सख्यादिप्रोक्तेषु भगवत्प्राप्त्युपायेषु **नष्टेषु** तदप्रापकतया स्वान्तःकरणे अनुपायतया भातेषु **खलो** अन्तर्दुष्टः ईर्ष्यारूपो **धर्मो** यस्मिन् तादृशे **कलौ** कलहे स्वसमानेषु स्वस्मिन् कृपातिशयख्यातिविषयके **नष्टे** = हृदयाद् अपयाते. **च**कारेण कलहादेरपि नष्टत्वं ज्ञाप्यते. **पाषण्ड**ः कलहजननकारणरूपो धर्मः **प्रचुरो** यस्मिन् तादृशे **लोके** सख्यादौ च अदृश्यमाने विरहेण तेषु दोषारोपः "**तस्य अधमस्य अन्तिकम्**" (अमरुशतकम् १०५) इत्यादिवद् अतो न दोषः. एवं सति दुःखितस्य **मम कृष्णः** सदानन्दः तादृशतापे हृदि विभाव्यमानएव **गतिः** बहिःप्राप्तौ साधनरूपो भवतु इति अध्याहृता प्रार्थना. अत्र एवं सर्वसाधनवैफल्यबोधनेन स्वस्य अतिखेदः **एव**कारेण तादृशसमये "**रुरुदुः सुस्वरं राजन्**" (भाग.पुरा.१०।२९।१) इत्यत्र फलप्रकरणइव भगवतः प्राकट्यावश्यकत्वं च द्योत्यते. एवम् अग्रेऽपि बोध्यम्॥१॥

(२).अतः परं भगवन्मिलनस्थानभूतानां देशानामपि अनुपायत्वम् आहुः **म्लेच्छाक्रान्त**...इत्यादि. म्लाना = रसमार्गविरोधिनी इच्छा येषां ते **म्लेच्छाः** एतद्रसानभिज्ञाः तैः **देशेषु** वृन्दावनादिषु **आक्रान्तेषु**. किञ्च **पापैकनिलयेषु** पाति इति पः = स्थायिभावः सो अपः = अक्षरको यत्र असौ पापो = विरहः सन्तापातिशयजनकत्वात् तदेकनिलयेषु; "**सो अयं वसन्तसमयो विपिनं तदेतत्, सो अयं निकुञ्जविटपी निखिलं तद्**

आस्ते, हा हन्त हन्त नवनीरदकोमलांगो, न आलोकि पुण्यधनुषः प्रथमावतारः" (रूपगो.पद्या.३२३) इतिवत् तदुद्बोधकत्वेन तदेकस्थानेषु. **चः** अवधारणे. तेन पूर्वम् अतथात्वम्, अनभिज्ञसम्बन्धेन तथात्वम् इति ज्ञाप्यते. किञ्च **सतः** शरीरस्य या **पीडा** तया **व्यग्राः लोकाः** स्वीयैकान्तभक्ताः येषु एतादृशे अवसरे **कृष्णएव** इति पूर्ववत्॥२॥

(३).अतः परं तादृशां तीर्थानामपि असाधकत्वम् आहुः **गंगा**...इत्यादि. इह वृन्दावनादिदेशे गंगा "**सितासिते सरिते यत्र संगते**" (ऋक्संहि.खिलखिल सू.५।१) इति श्रुतौ तस्याः पूर्वं पठितत्वात् सा आदिः यस्याः सा **गंगादिः** यमुनातत्प्रभृतीनि **तीर्थवर्याणि** घट्टविशेषाः चन्द्रसरोवर-श्रीकुण्डाद्याः "**नद्यः तदा**" (भाग.पुरा. १०।१४।१८) इत्यत्र उक्ताः नद्यश्च तेषु दुष्टैः एतद्भावराहित्येन **दुष्टैरेव आवृतेषु** व्याप्तेषु. किञ्च **तिरोहिताधिदैवेषु** तिरोहितम् अगोचरम् अधि उपरि दैवं "**दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्यम्**" (अम.कोश १।४।२७) इति कोशाद् अस्मद्भाग्यं "**त्रैलोक्यलक्ष्म्येकपदं वपुः दधद्**" (भाग.पुरा.१०।२९।१४) यत्र यदुपरि भगवान् इदानीं न दृश्यते चिह्नानि सन्तीति "**श्रीनिकेतैः तत्पदकैः विस्मर्तुं नैव शक्नुमः**" (सुबो.१०।४४।५१) इतिवद् अधिकतापजनकेषु इति भावः. तथाच एतादृशावस्थायां कृष्णएव इति पूर्ववत्॥३॥

(४).अतः परं सत्संगस्यापि असाधकत्वम् आहुः **अहंकार**...इत्यादि. निन्दायां सर्वत्र तापाधिक्यमेव बीजं, नतु तेषु दोषो बीजम्. **अहंकारेण** "**अस्मद्वशो भगवान् अस्मत्प्रार्थितएव अन्यत्र फलिष्यति**" इत्येवंरूपेण **विमूढेषु** स्तब्धेषु. किञ्च **पापानुवर्तिषु** पापः = पूर्वोक्तरीतिको विरहः, तम् अनु लक्षीकृत्य वर्तन्ते इति तथा. तथाच पूर्वं यद्वशः इदानीं तैरपि सह न मिलति इति. तद्गमकं **लाभपूजार्थयत्नेषु** लाभो भगवत्प्राप्तिः, तदर्था पूजा लाभपूजा, तदर्थं यत्नः = उद्यमो येषाम्.

पूर्वं भगवत्प्राप्तये कात्यायनी अर्चिता पुनः इदानीमपि यत् कुर्वन्ति तेन ज्ञायते न मिलति इति. लीलानां नित्यत्वात् तापेन आसक्तिभ्रमवत् तदाविर्भावात् तेष्वपि अमिलननिश्चयः. **सत्सु** एतन्मार्गगुरुषु एतादृशेषु सत्सु किं तत्संगेन इति **कृष्णएव** इति पूर्ववत्॥४॥

(५).अतः परं ततोऽपि अतितापेन गुरूणां हार्दं विचारयन्तो मन्त्राणाम् असाधकत्वम् आहुः **अपरि**...इति. **अः** भगवान् तस्य **परिज्ञानं** स्वभावज्ञानं "**न नन्दसूनुः**" (भाग.पुरा.१०।३६।२२) इति प्रस्थानसामयिक-विलापस्थश्लोकोक्तं तेन **नष्टेषु** असाधकतया तैः ज्ञातेषु. अतएव **अव्रतयोगिषु** ज्ञानगोचरत्वेऽपि जपादिनियमायोगिषु. तत्रापि हेतुः **तिरोहितार्थदेवेषु** तिरोहितो = अविषयो अर्थो = अभिधेयो देवो = अधिष्ठाता च येषां तादृशेषु **मन्त्रेषु** व्रतचर्याप्रासंगिक-मुख्यमहिषीप्रासंगिक-समर्पणादिप्रासंगिकेषु सत्सु **कृष्णएव** इति पूर्ववत् ॥५॥

(६).अतः परं ततोऽपि अतितापाधिक्येन स्वस्य अशक्तिं द्योतयन्तः कर्मादिनाशम् आहुः **नाना**...इत्यादि. नानाप्रकारकाः वादाः **नानावादाः** "**भगवान् मथुरायाम् एवं पुरवनितादीनां कामं वर्धयति, जरासुतादिभिः युध्यति, द्वारकायाम् उज्जयिन्यां प्राग्ज्योतिषपुरे इन्द्रप्रस्थादौ एवम् एवं करोति**" इत्यादि लोकोक्तिरूपाः, श्रीमदुद्धवानीत-सन्देशादि-तत्संवादादिरूपा वा, तैः **विनष्टेषु** अक्रियमाणेषु **सर्वेषु** गृहादिकर्मभगवद्व्रतादिषु. किञ्च **पाषण्डः** कापट्यं तेन **एको** मुख्यः **प्रयत्नो** बहिरुद्यमो येषां यत्सम्बन्धी. तथाच तादृशेषु एतद्गोपनाय लौकिकवैदिक-विहितम् आर्यादिककर्म-भगवद्व्रतादीनाम् उद्यमएव, नतु मनसः तत्कृतिरपि इति तादृशेषु तेषु सत्सु "**धारयन्ति अतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथञ्चन**" (भाग.पुरा.१०।४३।६) इत्येतादृशावस्थायां **कृष्णएव** इति पूर्ववत्॥६॥

(७).एवम् अतिशयितताापे भगवान् अन्तःप्रादुर् अभूत् ततः तया अवस्थया आहुः **अजामिलादि...**इति. जामि = आलस्यं, **"जामि वा एतद् यज्ञस्य क्रियते यद् अन्वञ्चौ पुरोडाशौ"** (तैत्ति.संहि.२।६।६।४) इत्यादिश्रुतौ तथा सिद्धत्वाद्, **"आत्मा यावत् प्रपन्नो अभूद्"** (सुबो.१०।२६।१।का.९) इत्यत्रेव अत्र परोक्षवादे वैदिकप्रयोगस्य अदोषात् च. न जामि = अजामि = अनालस्यं, तेन लान्ति = गृह्णते इति **अजामिलाः**, **आदि**पदेन जामिलाः च, तद्गुणसंविज्ञानः, शैघ्र्येण विलम्बेन च भगवद्विप्रयोजकाः इति यावत्. तथाच तादृशाः ये **दोषाः** मानादयः आज्ञाद्यकरणादयः च तेषां **नाशको अनुभवे** मानसे साक्षिप्रत्यक्षे च **स्थितो** गोचरीभवन्. **ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः** ज्ञापितम् अखिलं = समीक्षाभावादि मथुरा-द्वारकास्थित्यादि तत्तल्लीलादितात्पर्यविषयकं सर्वं **माहात्म्यम्** = उत्कर्षः परोक्षभजनाविस्मरणातिप्रियत्वरूपो येन तादृशः **कृष्णएव** इति पूर्ववत्. एतेन योग्यतमानामपि एतादृशतापएव प्रादुर्भावः ईदृशो नतु अन्यथा इति अन्यथातु अन्यथा इत्यपि सूचितम्॥७॥

(८).माहात्म्यं यद् ज्ञापितं तन्मध्ये यद् अत्र उपयुज्यते तत् प्रकटीकुर्वन्तः आहुः **प्राकृताः** इत्यादि. प्रकृते रसमार्गे भवाः = विद्यमानाः **प्राकृताः सकलाः** कला=भगवदनुरञ्जनचातुर्यं तया सह वर्तमानाः **देवाः** भगवता सह क्रीडापराः. किञ्च **बृहद्** अक्षरं गुहायां परमे व्योम्नि आविर्भूतं ब्रह्म **गणितानन्दकं गणितः** = श्रुतौ संख्यातः **आनन्दो** येषां प्रजापत्यन्तानां यतीनां वा तेषामेव कं सुखं यस्माद् इति तादृशं, नतु स्वस्मिन् स्थितिमात्रेण सकलदेवानां सुखदम्. तथा **पूर्णानन्दः** कर्मधारयेण बहुव्रीहिणा च **हरिः** देवानन्दतिरोभावहर्ता **कृष्णएव** तस्मात् **मम** तथा इति अर्थः. तथाच एतन्मार्गीयं फलं केवलपरमानुग्रहैकलभ्यमेव इति सपरिकर-भगवन्माहात्म्यं यद् भगवज्ज्ञापितं तत् सूचितम्॥८॥

(९).एवम् अनुग्रहस्य तत्फलस्य स्वकृतसाधनासाध्यत्वे अनुसंहिते या अवस्था ताम् आहुः **विवेक...**इत्यादि. **विवेकः** साधनतारतम्यानुसन्धानं, **धैर्यं** दुःखसहनसामर्थ्यं, **भक्तिः** स्वशरीरसेवा, **'आदि'**पदेन तत्तत्साधनानि, तैः **रहितस्य. विशेषतो** अत्यन्तं **पापेन** पूर्वोक्त-विरहात्मकेन **असक्तस्य** मुक्तसमस्तसंगस्य अतएव **दीनस्य** ततएव अनोजसः **कृष्णएव** इति पूर्ववत्॥९॥

(१०).एवम् अतितापेन परमदैन्ये भगवान् बहिः प्रादुर्भूतः तदा अतिसन्तुष्टा जीवेषु मन्द-मध्यमेषु एवं विलम्बाभावाय विज्ञापयन्ति **सर्व...**इत्यादि. अयोग्येष्वपि योग्यतासम्पादनं कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुं समर्थस्यैव शक्यम् इति तादृशः सन्. तादृशत्वस्य गमकम् औदार्यम् इति **सर्वत्रैव** अंगीकृतमात्रे **अखिलार्थानां** पुष्टिपुष्टिमोक्षरूपाणां **कृत्** करणशील **कृष्ण!** पूर्वोक्तश्रुति-पुराणव्याख्यातरूप. श्रीरघुनाथचरणैः **'कृष्ण'**पदं सम्बुद्ध्यन्तत्वेन व्याख्यातमिति अस्माभिरपि तथा उक्तम्. द्वितीयान्तपक्षेऽपि क्विबन्तमेव. **शरणस्थानाम्** एतन्मार्गरीत्या शरणागतानां फलपर्यन्तम् **उद्धारम् अहं** भवदनुभावप्रकटनार्थाज्ञया अवतीर्णः **विज्ञापयामि.** एतेन स्वस्य विज्ञापने भगवतः च तथा उद्धारे आवश्यकता सूचिता॥१०॥

(११).विज्ञापनां वदन्ति **कृष्णाश्रयम्** इत्यादि. **कृष्णाश्रयं स्तोत्रं** श्रीरूपः स्वामिनीभावपूरितत्वात् **वल्लभो** भगवतः प्रियः आचार्यवर्यो **अब्रवीद् इति यः पठेद्** एवम् अनुसन्दधानो यो अस्मद्विप्रयोगावस्थां ज्ञापयन् **कृष्णसन्निधौ** व्यक्तं कथयेत् **तस्य कृष्णः आश्रयो भवेद्** इदं विज्ञापनम् इति अर्थः. स्तोत्रस्य प्रत्यक्षत्वेन इदमा विनापि अर्थसिद्धेः इति शब्दान्तरानध्याहारात् च अत्र दुरान्वयोऽपि अदुष्टएव. **"विमुञ्च आत्मतनुं घोराम् इत्युक्तो विमुमोच ह"** (भाग.पुरा.३।२०।२८) **"विससर्ज**

तनुं तां वै ज्योत्स्नां कान्तिमयिं प्रियाम्'' (भाग.पुरा. ३।२०।३९) इत्यादौ भावएव तनुत्वेन व्यवहारात् च श्रीरूपत्वोक्तावपि न दोषः इति न कोपि शंकालेशः इति. यथाधिकारं सर्वाएव टीकाः उपयुज्यन्तइति न क्वापि शंकालेशः इति दिक्॥११॥

इति श्रीवल्लभाचार्यप्रकटीकृतम् अद्भुतम्।
स्तोत्रं कृष्णाश्रयकरं विवृतं तत्प्रसादतः॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणकमलचञ्चरीक-श्रीश्यामलात्मज-श्रीव्रजराज[१]-विरचितं कृष्णाश्रयस्तोत्रविवरणं समाप्तम्

१. इयमपि विवृतिः स्वधर्मपितुः नाम्ना श्रीपुरुषोत्तमकृतैव भाति (सम्पा.)

॥ चतुःश्लोकी ॥

(श्रीव्रजराजकृत-भावरसदीपिकोपेता)

श्रीमद्रासरसामृताब्धिविलसद्-गोपीशपादाम्बुज-
द्वन्द्वस्नेहविलासदानकरणे श्रीपारिजातोपमः ॥
स्फूर्जद्गोपकदम्बिनीविलसित-प्रेमाख्यवर्त्माकरो
भूयान्मे हृदि सन्ततं दुरितहृत् श्रीविठ्ठलो वाल्लभिः ॥

भगवदीयानां धर्मादिचतुष्टयं भगवानेवेति स्वीयेषु कृपया श्रीमदाचार्यचरणाः चतुर्भिः श्लोकैः तदेव ज्ञापनार्थं विवृण्वन्ति **सर्वदा सर्वभावेन** इति.

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः ॥
स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन ॥१॥

सर्वभावेन सर्वात्मभावेन **सर्वदा व्रजाधिपो भजनीयः** इति सम्बन्धः. सर्वैः इति शेषः. **स्वस्य अयमेव धर्मो, अन्यो न क्वापि** कुत्रचित् **कदाचन** कस्मिन्नपि काले इति अर्थः. **हि** इति युक्तश्च अयम् अर्थः, सहजदासत्वेन जीवस्य यतो अयमेव अर्थः श्रुत्या प्रतिपाद्यते. अतएव अस्मत्प्रभुचरणैः **"निजनिसर्गप्रभु-श्रीगोकुलनाथचरणकमल-दास्यमेव स्वधर्मः"** (विद्व.मण्ड.जीवाणुत्व.२८) इति निरणायि. **सर्वदा** इति पदेन न अत्र कालादिनियमः इति ज्ञापितम्. धर्मशास्त्रादिषु धर्मकरणे कालादिनियमः उक्तः तेन तत्र धर्मजनितफलस्यापि कालाधीनत्वेन क्षयिष्णुत्वमेव. अत्र तदभावाय **सर्वदा** इति उक्तं भवति. किञ्च

सर्वदा इति पदेन क्षणमात्रमपि अन्यधर्मकरणे अनन्यत्वभंगप्रसंगः इति ज्ञापितं भवति, भगवतो जीवानां पतित्वनिरूपणात्. यथा पतिव्रतायाः क्षणमपि अन्यत्र मनश्चालनेन व्रतभंगः तथा अत्रापि इति ज्ञापनाय **सर्वदा** इति उक्तम् इति भावः. **सर्वभावेन** इति. सर्वो भगवति यो भावः तेन तथा पति-पुत्रादिभावेनापि तथा इति अर्थः. एतदेव उक्तम् आचार्यैरेव "**तादृशीं भावनां कुर्याद्**" (. । ।) इत्यादि. यद्वा **सर्वभाव**पदेन स्त्रीभावः उच्यते, 'सर्व'पदस्य एकस्मिन् धर्मे तत्रैव शक्तेः. अतएव व्रजमण्डनाभिः उक्तं "**सन्त्यज्य सर्वविषयान् तव पादमूलम्**" (भाग.पुरा.१०।२६।३१) इति, तत्र(?अन्यत्र!) एकस्मिन् 'सर्व'पदाशक्तेः इति भावः. यद्वा सर्वो भगवति यो भावः, स्त्रीभावः इति यावत्. भगवति सएव भावः प्रयोजकः इति श्रीमत्स्वामिनीकृत-स्वशृंगारादिप्रकारयुक्ते भगवति यो भावः स तथा. अतएव अस्मत्प्रभुचरणैः उक्तं "**यद्यपि युवतिवेषः**"इत्यारभ्य "**पुंसामपि युवतीभावम् उद्वेलम्**" (शृंगा.मण्ड.१०।१९-२०) इत्यादिपद्यद्वयेन. अतएव . अस्मत्प्रभुचरणैः श्रीमदाचार्यैः च उक्तम् "**एतत्सन्दर्शनेतु स्यात् प्रमदाभावएव हि**" (ललि.त्रिभं.स्तो.४२) इति, "**स्त्रीभावो गूढः**" (सुबो.१०।१८।५) इत्यादि च. ननु सर्वेषां तद्भावायोग्यत्वाद् एतद्बोधनम् अनुपपन्नम् आभाति इति चेत्, सर्वेषां तद्योग्यत्वं ब्रह्मणा बृहद्वामने "**स्त्रियो वा पुरुषा वापि भर्तृभावेन केशवम्**" (बृहद्वाम.पुरा. । ।) इत्यादिना उक्तम्. यद्वा **सर्व**शब्देन प्रभुरेव अत्र उच्यते, यतः 'सर्व'शब्दस्य तत्रैव शक्तिः, तदात्मरूपा स्वामिनी, तत्र **भावेन** दासीभावेन प्रभुषु तत्सन्देशादिकथनपूर्वक-सर्वसामग्रीसम्पादनेन इति भावहृदयम्. '**व्रजाधिप**-'पदेन पूर्णपुरुषोत्तमत्वं ज्ञाप्यते. यथा कृपया तेषु स्वीयत्वं प्रकटीकृत्य स्वस्मिन् च तदाधिपत्यं प्रकटीकृत्य रमते तथैव सर्वात्मभावेन भजने सर्वेषामेव करिष्यति इति '**व्रजाधिप**'नाम्ना द्योत्यते. तेषु स्वाधिपत्यन्तु श्रीगोकुलजनरसदानेच्छाजनित-वामकरशिखरिवरधारणप्रोद्यद्- उत्साहोल्ल-

सित-हृदयेन श्रीगोकुलनाथेनैव उक्तं "**मन्नाथं मत्परिग्रहम्**" (भाग.पुरा.१०-।२२।१८) इत्यादिना. एवं भगवतः स्वस्य अधिपत्वं हृदि कृत्वा भजनीयः इति भावः.

स्वस्य तदंशत्वेन **अयमेव धर्मो, न अन्यः** इति अर्थः. अतएव स्मर्यते "**यो यदंशः स तं भजेद्**"इत्यादि. अस्य स्वधर्मत्वोक्त्या अन्यधर्मकरणे बाधकत्वमेव स्याद् इति अर्थः. अतएव श्रीदेवकीभाग्योदया-चलभूषणेन श्रीगीतास्वपि उक्तं "**स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः**" (भग.गीता ३।३५) इति. अस्य स्वधर्मत्वोक्त्या अन्यत्र तदभावः स्वतःसिद्धएव. तथापि **न अन्यः** इति यद् उक्तं तद् धर्मशास्त्रादिषु अन्यत्र 'स्वधर्म'पदकथनेन तद्दर्शनेनापि चित्ते अन्यथा न विचारणीयम् इति भावः. यतः ते बहिर्मुखाः देहधर्ममेव स्वधर्मत्वेन वदन्ति नतु भगवद्धर्मम् इति, धर्मशास्त्रस्य तदुद्देशेनैव प्रवृत्तेः तदनिरूपणं युक्तमेव. अतएव युधिष्ठिरेण "**को धर्मः सर्वधर्माणां भवतः परमो मतः**" (महाभा.१३।२५४।३) इति पृष्टो भीष्मः प्रभुसहस्रनामस्तवनं भक्त्या तत्सेवनं च परमधर्मत्वेन उक्तवान्. ननु अयं कर्तव्यएव, तत् कथं सर्वथा निषिध्यते? उच्यते सत्यम्, अस्य देहसम्बन्धित्वेन करणीयत्वम् आयाति, परम् अन्यसृष्टिवद् यदि भक्तानां देहो भौतिको भवेत्. भगवद्भक्तानान्तु भगवत्पादपद्मरेणु-सम्पादित-देहत्वात् तद्भजनकरणमेव स्वधर्मो, न अन्यः इति सर्वम् अवदातम्. अतएव श्रीवराहैः उक्तम् "**अन्यैव काचित् सा सृष्टिः विधातुः व्यतिरेकिणी**" (स्कन्दपुरा. १।४।२५।२५) इत्यादि. सा सृष्टिः भगवता स्वसेवार्थमेव उत्पादितेति तत्सेवनमेव धर्मः इति भावः. तत्र देशादिसाधनस्य उक्तत्वाद् धर्माभासएव नतु धर्मोऽपि. स्वतो दुर्बलत्वाद् अन्यसापेक्षणमपि अतएव. अत्र तदभावम् आहुः **क्वापि** इति. अस्य धर्मिमार्गत्वात् प्रबलत्वेन कुत्रापि करोतु, न देशादिनियमो, यतो देशाद्याधिदैविकसम्पादनं भगवतैव. अतएव

उक्तं श्रीभागवते **"तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता"** (भाग.पुरा.१।१३।१०) इति. तेन **अन्यः क्वापि न.** अयन्तु धर्मिरूपत्वाद् अतिप्रबलत्वाद् अतिरोहितत्वात् क्वापि भवतु इति भावः. धर्मि-धर्मयोः अभेदाद् धर्मोक्तिः इति भावः. **कदाचन** कस्मिन्नपि काले **अन्यधर्मः** स्वधर्मो **न** इति अर्थः. भक्तानां धर्मरूपोऽपि भगवानेव. तस्माद् धर्मादिषु मनोगमनेऽपि ततः आकृष्य भगवतएव धर्मरूपतां ज्ञात्वा सर्वात्मभावेन भगवानेव भजनीयः इति भावः. किञ्च धर्मेणैव इष्टिसिद्धिः यतो निगमे तथैव प्रतिपाद्यते, **"धर्मेण पापम् अपनुदति"** (महाना.उप.२२) इत्यादिना पापस्यैव इष्टप्राप्तिप्रतिबन्धकत्वेन श्रवणात्. तत्र सांगविधिना कृतेन धर्मेण पापनिवृत्तिः, ततः पुनः तत्करणेन फलप्राप्तिः. साच अतिदूरतरा, यतः सांगकरणं न सम्भवति. अतः स्मर्यते **"यस्य स्मृत्या"** इत्यारभ्य **"न्यूनं सम्पूर्णतां याति"** (नार.पुरा.१।१७।१०८) इत्यन्तेन भगवत्स्मरणेनैव तत्र पूर्णता. अन्यथा विधिशेषत्वं भवत्येव. अत्र विधेरेव अभावेन भजनस्यैव भावात्मकत्वेन फलस्यैव धर्मोक्त्या भजनानन्दएव फलाप्तिः इति भावः. अतएव यदुकुलामृताब्धिसुधादीधितिना अगादि **"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तान् तथैव भजामि अहम्"** (भग.गीता ४।११) इत्यादिना. विधिहीनानां धर्मादीनाम् असाधकत्वं योगियाज्ञवल्क्येन स्मर्यते **"विधिहीनं भावदुष्टं कृतम् अश्रद्धया च यत् तद् हरन्ति असुराः तस्य मूढस्य अकृतात्मनः"** (याज्ञ.स्मृ.परि.१०९) इति. किञ्च भक्तानां भगवानेव इष्टः, तत्प्राप्तिश्च न अन्यधर्मैः भवति विना तत्सेवनम्. तस्मात् तद्विप्रयोगतापे सति तत्प्राप्त्यर्थं च यद् भगवत्सेवनं तद् धर्मरूपमेव इति भावः. अतएव शुकवागमृताब्धौ **"भक्त्या सञ्जातया भक्त्या"** (भाग.पुरा.११।३।३१), **"भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपायः"** (भाग.पुरा.७।९।९), **"प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिः अन्यद् विडम्बनम्"** (भाग.पुरा.७।७।५२), **"भक्त्या अहम् एकया ग्राह्यः श्रद्धया आत्मा प्रियः सताम्"** (भाग.पुरा.११।१४।२१), **"प्रतिष्ठया सार्वभौमम्"** इत्यारभ्य

“**मामेव नैरपेक्ष्येण भक्तियोगेन विन्दति**” इत्यन्तेन (भाग.पुरा.११।२७।५२-५३) एवं वाक्यसहस्रैः भक्तीतरसाधनासाध्यत्वं निश्चीयते भगवतः. तत्रैव पुनः भगवता सर्वधर्मान् निरूपयता श्रीमदुद्धवं प्रति उक्तं “**सर्वेषां मदुपासनम्**” इत्यारभ्य “**इति मां यः स्वधर्मेण भजन् नित्यम् अनन्यभाग्**” (भाग.पुरा.११।१८।४३-४४) इत्यन्तेन अनन्यभजनस्यैव स्वधर्मत्वम्.

तस्माद् धर्माकांक्षायां भगवदीयानां धर्मरूपो भगवानेव भजनीयः इति भावः. किञ्च अन्यधर्माणाम् अधिकारिपरत्वम् उक्तं प्रभुचरणैः, स्वभजनस्य च सर्वेषाम् अधिकारित्वम्. तेन सर्वपापशोधक-निर्मलवस्तुनो न अधिकारादिकम् अपेक्षितम्. तस्माद् ‘धर्म’पदस्य भगवद्भजनएव शक्तिः. तथाच तेजवत्सु अन्यत्रापि दृश्यते. अतिरोहिताधिदैविक-गंगास्नाने पापनिवर्तकत्वम्, अग्नेश्च दाहकरणे अविचारः तथा अन्यधर्मादिषु धर्मत्वं चेत्, स्यात् तदा, इष्टरूपभगवत्प्राप्तिरपि स्यादेव. सर्वेषाञ्च तत्करणे अधिकारोऽपि स्यात्. परं तदभावे तत्र ‘धर्म’पदप्रयोगो गौणएव इति भावः. हि इति युक्तश्च अयम् अर्थः, सर्वात्मकस्य भगवतएव सेवनम् आत्मधर्मइति. यद्वा हि इति युक्तश्च अयम् अर्थो यद् अन्यसम्बन्धरहितस्यैव भगवद्भजनस्यैव धर्मत्वम्. यतो भगवतापि उक्तं “**भक्त्यातु अनन्यया ग्राह्यः**” (भग.गीता ११।५४), “**अनन्याः चिन्तयन्तो माम्**” (भग.गीता ९।२२) इत्यादिना इति भक्तानां भगवद्भजनमेव स्वधर्मः इति स्वधर्मत्वेन भगवानेव सेव्यो, नतु अन्यधर्मेषु मनो निवेशनीयम् इति भावः ॥१॥

एवं धर्मरूपम् उक्त्वा अर्थस्वरूपम् आहुः एवम् इति.

एवं सदा स्म कर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति॥
प्रभुः सर्वसमर्थो हि ततो निश्चिन्ततां व्रजेत्॥२॥

सदा एवं कर्तव्यं यथा अग्रे निरूप्यते. तदेव आहुः **प्रभुः** इति. **प्रभुः** स्वामी भक्तानां **सर्वरूपश्च** असौ **सम्यग् अर्थरूपश्च** यतः तस्मात् **स्वयमेव करिष्यति ततः** कारणात् **निश्चिन्ततां** निश्चिन्तस्य भावं **व्रजेद्** इति अर्थः. एवमेव कर्तव्यम् इति **स्म** इति प्रसिद्धिः उक्ता. अर्थः सर्वदा गोप्यो भवति, तद्रूपमेव गोपायति. **प्रभुः** सर्वसमर्थः, ततः **स्वयं कर्तव्यं** रक्षणादिकं **प्रभुरेव करिष्यति एवं सदा निश्चिन्ततां व्रजेद्** इति अर्थः. यथा अर्थस्य रक्षार्थं स्वयं यत्नः क्रियते, तस्य जडत्वात्, अत्र प्रभोरेव तदुक्त्या यो गोप्यो अंशः तं प्रभुरेव भावादिरूपं गोप्यं करिष्यति इति स्वयं निश्चिन्तो भवेद् इति भावः. अतएव आचार्यैः नवरत्ने उक्तं "**चिन्ता कापि**" (नवरत्न.१) इत्यादि. यथा अर्थस्य सम्यग्गोपने कृतएव निश्चिन्तता भवेत् तथा अत्र तं भावम् अर्थरूपं बहिर्मुखादि-चौरेभ्यो भगवान् स्वयमेव गोपायति इति सिद्धवत्कारेण **निश्चिन्ततां व्रजेद्** इति उक्तम्. यथा अर्थस्य गोपनं सर्वेभ्यः क्रियते तथा अस्यापि भावस्य अतिगोप्यत्वाद् न उक्तं परं निश्चिन्ततोक्त्या गुप्तत्वेन उक्तम् इति भावः.

यद्वा **प्रभुः सर्वसमर्थः ततः स्वयमेव कर्तव्यं करिष्यति सदा एवं** ज्ञात्वा निश्चिन्ततां व्रजेद् इति अर्थः. यथा अर्थेनैव सर्वसामग्र्यादिकं भवति तथा अत्र प्रभुः स्वभोगयोग्य-देहयौवनादिसामग्री-सम्पादनं कर्तव्यत्वेन उच्यते तत् स्वयमेव करिष्यति. यतः **सर्वपदेन** भक्तानां सर्वेषां **सम्यग् अर्थः** सएव इति सदा एवं तथा भवेद् इति भावः. अयमेव अर्थो रसाब्धिसुधाकर-श्रीमत्प्रभुचरणैः रससर्वस्वे निर्णीतः "**विनैव समयक्रमं सखि तदा यद् आसीद् अतिस्फुटं नवलयौवनं त्रिदशमोहिनीमोहनं, तद् अंगगगुणो न तद्व्रतकृतो अन्यदीयोऽपि वा विचित्ररसभावित-प्रियकटाक्षगो अयं परम्, वयएव यद् ईदृशं तदीयं किमु वाच्यं सखि विग्रहाद्यशेषं**

रसरूपम् इति इन्दिरादुरापं रसम् आपुः यद् उदारतो रसाब्धेः" (रससर्वस्व.२२०-२२१) इत्यादिना. तेन अर्थस्य अधिदैवरूपायाः तस्याः(=लक्ष्म्याः) यद् दुरापं तद् अर्थासाध्यन्तु भवत्येव. भगवता च स्वीयेषु तत् सम्पाद्यते. तस्माद् "**भगवानेव अस्माकम् अर्थरूपो अस्ति, सएव सर्वं करिष्यति**" इति ज्ञात्वा एवं पूर्वोक्तसर्वात्मभावेन **सदा** भजनं **कर्तव्यम्**. **ततः प्रभुरपि सर्वसमर्थः** तथैव **करिष्यति** इति भावः. ननु तथाकरणं व्रजवरकुमारिकास्वेव सम्भवति, तासां योग्यत्वाद् अन्येषाम् अयोग्यत्वात् कथम् एवं बोधनम्? इति चेत्, सत्यं, तदयोग्यत्वं जीवानां, तथापि सर्वात्मभावेन तथा चेद् भजेत् तदा भगवदनुग्रहेण तथा भवेत् तदा भगवानपि कुर्यादेव इति भावः. अतएव पुष्टिसरसिज-मार्तण्डायिताचार्यचरणैरेव भ्रमरगीतविवरणे प्रकटीकृतं "**तद्दुरापत्वेऽपि तदाशया तद्भजनमेव कार्यम्**" (सुबो.१०।४४।६०) इति उक्तम्. तदप्राप्तिः चेत् स्यात् तदा 'तदाशया' इति न उक्तं स्यात्. तथाच श्रीगोपीजनप्रेमकुमुदबन्धु-श्रीविठ्ठलनाथैरपि विद्वन्मण्डने रससर्वस्वे च आलेखि "**सर्वात्मभावेन चेत् तथा भजनं करोति तदा भगवानपि अंगीकरोत्येव**" (विद्वन्मण्डन.५०) इति, "**यद्गानज्ञ**" इत्यस्मिन् पद्येऽपि "**यस्मिन् महानुग्रहः तस्मिन् घोषनितम्बिनीत्वम् अचिरात् कर्ता प्रियः प्रायशः**" (रससर्वस्व.६९) इति. तस्मात् तदनुग्रहेण तथा भवति इति भावः. अतएव यदुकुलरत्नाकरेन्दुना "**ये यथा मां प्रपद्यन्ते**" (भग.गीता ४।११) इति उक्तम्.

यद्वा **स्वयं कर्तव्यं** भजनादिकं व्रजसुन्दरीषु **समर्थो** हि **प्रभुः करिष्यति** एव अस्मद्दर्शनार्थम् **सदा एवं निश्चिन्ततां व्रजेत्** तत्प्रकारक-भगवल्लीलादर्शनार्थं चिन्ता न कार्या. प्रभुः स्वतएव करिष्यति इति भावः. **स्म** इति प्रसिद्धिः यतः प्रभुणैव उक्तम् "**अहं भक्तपराधीनः**" (भाग.पुरा.९।४।६३) इति. तदधीनत्वेन तन्मनोभिलषितकरणं स्वतएव

सिद्धम्. हि इति निश्चयेन युक्तश्च अयम् अर्थो यतो भगवदर्थं **"सन्त्यज्य सर्वविषयान्"** (भाग.पुरा.१०।२६।३१) इत्यादिवद् ये त्यजन्ति तेषां मनोरथपूरणं च भगवता कर्तव्यमेव. अतएव भगवतैव उक्तं **"ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्मि अहम्"** (भाग.पुरा.१०।४३।४) इत्यनेन, भरणकरणोक्त्या यथा तेषां स्वलीलादर्शनं भवति तथैव कृत्वा स्वलीलायामेव स्वरूपात्मिकायां स्वस्मिन्नेव स्थापयामि इति भावः. अर्थेनैव स्वमनोरथाभिलाषो भवति, अन्यथातु जलतरंगवद् उद्भूतदीनमनोरथापूर्तिरिव सदा. तथा अत्र श्रीमत्प्रभुचरणसेवनेनैव भक्तमनोरथपूर्तिः इति भक्तानाम् अर्थरूपोऽपि भगवानेव सेव्यः इति भावः. यथा अर्थं विना लौकिकरमणादिकं भोगश्च न सिद्ध्यति तथा अत्र अर्थाधिदैविक-लक्ष्मीप्रवेशं विना भगवद्-रमणभोगौ च न सम्भवतः. सा सम्पत्तिरपि स्वस्मिन् स्वतएव सेवनसन्तुष्टः करिष्यत्येव प्रभुः तदा श्रीमदनुग्रहेण तत्प्राप्तिः तेनच तौ सम्भवेताम्. भगवदाज्ञयैव भगवदेकशरणायाः तस्याः प्राप्तिरिति भगवानेव अर्थरूपः. अतएव श्रीगोकुलनाथ-वागधिपति-श्रीमत्प्राणेश्वरैः फलप्रकरणे (उक्तं!) **"सर्वत्र तासु सा भगवदाज्ञया रमापि निविष्टा"** (सुबो.१०।३०।१७) इत्यस्य अर्थस्य अत्यन्तं गोप्यत्वात् **सर्वसमर्थः** इति पदेन परोक्षेणैव गुप्ततया प्रभुचरणैः प्रकटीकृतम् इति अलं लेखनेन. तच्चरणाब्जमकरन्द-पानमत्तानां हृदि प्रभुमुखेन्दूदयेन स्वतएव भावाब्धिवीचिप्रचारो भविष्यति इति भावः ॥२॥

एवम् अर्थस्वरूपम् उक्त्वा कामस्वरूपं निरूपयन्ति **यदि श्रीगोकुलाधीशः** इति.

यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि॥
ततः किम् अपरं ब्रूहि लौकिकैर्वैदिकैरपि॥३॥

श्रीगोकुलाधीशः सर्वात्मना यदि हृदि धृतः ततो लौकिकैः लोकसम्बन्धिसुखैः **वैदिकैरपि** वेदोक्तकर्मजन्यैः स्वर्गादिसुखैरपि **किम् अपरम्** अस्ति? न किमपि इति अर्थः. त्वं **ब्रूहि** स्वं मानसमेव साक्षीकृत्य उच्यते. **यदि** इति पदेन कस्यचिदेव परमभाग्यवतः कृतपुण्यपुञ्जस्य अग्निकुमारीणामिव भावो भवतीति दुर्लभत्वं ज्ञाप्यते. **'गोकुलाधीश'**नाम्ना भगवतः तदधीनत्वं ज्ञाप्यते. अतएव स्वस्वामित्वाभिमानिभिरपि इन्द्रादिभिः भगवान् तत्पतित्वेन अभिषिक्तो भगवन्मनोऽनुवृत्तिज्ञानेन. एतदेव उक्तं **"इति गोगोकुलपतिं गोविन्दम् अभिषिच्य सः"** (भाग.पुरा.१०।२४।२८) इति. 'गो-गोकुलो'क्त्या गोप्यो गोपाः गावः च उच्यन्ते इति भावः. तेन तासाम् अधीशो अतिरसिकः प्रेमरसज्ञश्च, अन्यथा पूर्णपुरुषोत्तमः कथं गोपीनां पशुतुल्यानां स्वयं प्रभुत्वम् अंगीकुर्यात्! तासां केवलं प्रेम्णैव अंगीकारात् स चेद् हृदि तद्योग्यस्वरूपभावेन धृतः तदा तथैव अंगीकुर्यादिव इति **'गोकुलाधीश'**नाम्ना द्योत्यते.

सर्वात्मना सर्वथा सर्वभावेन, कामभावेन इति यावत्. अत्र **सर्वात्मपदं** कामपरमेव, यथा व्रजभाग्यरूपाणां सर्वात्मभावः कामभावात्मकएव. अतएव उक्तं **"गोप्यः कामाद्"** (भाग.पुरा.७।१।३०) इति. तथा अस्मिन् आचार्यप्रकटित-पुष्टिमार्गे तादृक्प्राप्तिरेव उच्यते, सएव भावः उपदिश्यते, ताएव च गुरवः इति आचार्यैरेव उक्तं संन्यासप्रकरणे **"गोपिकाः प्रोक्ताः गुरवः साधनं च तद्"** (संन्या.निर्ण.८) इति. तेन **सर्वात्मना** कामभावेन इति भावः. अस्य अत्यन्तं गोप्यत्वात् स्पष्टतया न उक्तम्. एवं प्रकारेण **चेद् हृदि स्वयं धृतः** स्वधारणोक्त्या बलात्कारेणैव **"मैवं विभो अर्हति"** (भाग.पुरा.१०।२९।३१) इत्यादिरीत्या इति भावः. तथा चेद् धृतः तदा **लौकिकैः** पतिभिः **वैदिकैः** स्वर्गादिभिः पुत्रादिभिः वा **अपरं किं** न किमपि इति अर्थः. अतएव लौकिक-वैदिकत्यागपूर्वकं कामभावेन भजनं श्रीव्रजनाथप्राणवल्लभाभिरेव

उक्तं "**सन्त्यज्य सर्वविषयान् तव**" (भाग.पुरा.१०।२६।३१) इति, "**पतिसुतादिभिः आर्तिदैः किम्**" (भाग.पुरा.१०।२६।३३) इत्यादिभिः त्यागम् उक्त्वा पश्चाद् भजनार्थम् उक्तं "**तन्नो निधेहि**" (भाग.पुरा.१०।२६।४१) इत्यारभ्य "**तप्तस्तनेषु च शिरस्सु च किंकरीणाम्**" (भाग.पुरा.१०।२६।४१) इत्यादिना. भगवतापि तथैव अंगीकाराद् ज्ञायते च अस्यैव भावस्य प्राबल्यम्. तस्माद् अपरं न किमपि इति भावः. त्वया चेद् ज्ञायते वा किमपि अपरं तदा **ब्रूहि**. यद्वा 'गो'पदम् इन्द्रियवाचकं, तेन इन्द्रियकुलस्य प्रभुः **सर्वात्मना** पूर्वोक्तकामभावेन **हृदि** मनसि सर्वेन्द्रियाधिष्ठातरि **यदि धृतः ततो लौकिकैः** पतिभिः **किं** न किमपि इति अर्थः.

अत्र अयं भावः : यदि भगवान् धृतः तदा सर्वाणि इन्द्रियाणि भगवत्पराणि भवन्ति. तदैव च जन्मेन्द्रियसाफल्यम्. तदेव उक्तं व्रजवरवरणीयाभिः "**अक्षण्वतां फलम्**" (भाग.पुरा.१०।१८।७) इति पद्ये. श्रीमदुद्धवैश्च "**किं ब्रह्मजन्मभिः**" (भाग.पुरा.१०।४४।५९) इति तासां भावदर्शनेन अन्यजन्मवैफल्यम् उक्तम्. तस्माद् एवं यदि प्रभुः धृतः तदा **अपरं लौकिकैः** पतिभिः **किं** भविष्यति? न किमपि इति भावः. **वैदिकैः** इति पतिविशेषणं, वेदोक्तैरपि लौकिकैः किम्! इति. अयम् अर्थो : वेदे पतिभजनेन मोक्षः स्याद् इति उक्तं, तत्तु सम्प्राप्तदेहेन्द्रियाणाम् असम्बद्धतरम्. अतएव उक्तम् आचार्यैः "**इदमेव इन्द्रियवतां फलं मोक्षोऽपि न अन्यथा, यथा अन्धकारे नियता स्थितिः न अक्ष्णोः फलं भवेद्, एवं मोक्षोऽपि इन्द्रियादियुक्तानां सर्वथा नहि**" (सुबो.१०।१८।७।का.१०-११). तस्मात् तैः किं ब्रूहि? पूर्वपक्षिणं प्रति उच्यते **अपरमपि किं तैः** इति जानासि चेत् तदा **ब्रूहि**. ननु भगवदप्राप्तिसमये लौकिकेष्वेव सम्बन्धात् कामस्य च बलिष्ठत्वात् कदाचित् तेषु मनः चलति तदा तत् कृतमपि अकृतं भवति, ततो

वेदानुसारेणैव करणम् उचिततरम् इति चेत्, न, भगवन्निवेशितमनसां सर्वथा अन्यत्र कामो न सम्भवत्येव इति श्रीव्रजकुमारिका-कामपूरण-पारिजातचरणेन श्रीनन्दकुमारेणैव उक्तं "**न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते**" (भाग.पुरा.१०।१९।२६) इति. यद्वा **लौकिकैरपि** दृश्यादिगुणैरपि **सर्वात्मना** कामभावेन वा **वैदिकैः** व्रजेन्द्रदिङ्मुखालंकरण-मुखचन्द्राभिः उक्तधर्मैः "**चूतप्रवालबर्हस्तबकोत्पलाब्ज...**" (भाग.पुरा. १०।१८।८) इत्यादिभिः **यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः ततो अपरं किं** न किमपि इति भावः. एवं सर्वप्रकारैरपि कामभावेन प्रभुरेव सेव्यः इति भावः ॥३॥

कामस्वरूपम् उक्त्वा मोक्षस्वरूपम् आहुः **ततः सर्वात्मना** इति.

ततः सर्वात्मना शश्वद् गोकुलेश्वरपादयोः ॥
स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यम् इति मे मतिः ॥४॥

॥ इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणविरचिता चतुःश्लोकी ॥

ततः कामभावात्मक-भक्त्यनन्तरं पुनः **सर्वात्मना** सर्वात्मभावेन **शश्वद्** निरन्तरं **गोकुलेश्वरपादयोः स्मरणं** तथैव **भजनमपि न त्याज्यम् इति मे** मम मदीया **मतिः** इति अर्थः. अत्र अयम् आशयः : कामभावेन भगवत्सम्बन्धानन्तरं तत्सम्बन्धस्वभावमर्यादाजनित-तुल्यत्व-प्रमदात्वमदेन अन्यथाभावे सति मानादिना दोषभावेन तद्भावात् च्युतिः स्यात्. ततः सर्वात्मभावेन भजनमेव कार्यम् इति भावः. '**शश्वद्**' इति पदेन क्षणमपि अन्यथाकरणे सर्वथा असुरप्रवेशः स्याद् इति ज्ञाप्यते. '**गोकुलेश्वर**'नाम्ना यथा तेषां सर्वभावप्रपत्त्या सन्तुष्टः चातुर्यादिरहितेष्वपि स्वामित्वम् अंगीकृतवान् तथा अत्रापि तवापि करिष्यति इति ध्वन्यते. पादेषु द्वन्द्वकथनेन श्रीस्वामिनीपादसाहित्यं ज्ञाप्यते. '**स्मरण**'पदेन स्मरणं

चेतसो धर्मइति चित्ते भगवद्विप्रयोगसमये स्मरणम् इति भावः. अन्यथा तद्विप्रयोगस्य अतितीक्ष्णत्वेन जीवनमेव न स्याद् इति भावः. **भजनं** सेवा, सापि निरन्तरं तथैव इति भावः. **चकारेण** भजनं चित्तपूर्वकमेव कर्तव्यम् इति भावः. '**अपि**'शब्देन भगवान् भजतु वा मा भजतु, स्वस्य भजनीयएव इति भावः. अतएव श्रीगोकुलाधीशरति-मार्गाब्जमार्तण्डायित-पादपद्मैः श्रीविट्ठलनाथैः अगादि "**मारणे वारणे वापि दासीनां नः प्रभुः गतिः**" (विज्ञ.१।२६) इति. अयमेव अर्थः स्वयं न त्याज्यम् इति स्वकरणकाऽत्यागोक्त्या ज्ञाप्यते इति भावः. **मे मतिः** इति स्वमतिकथनेन स्वानुभवः प्रदर्शितः. भक्तिमार्गे भक्तिरेव परमपुरुषार्थो मोक्षादपि अधिकत्वं भक्तेः सिद्धमेव. तस्मात् पुष्टिमार्गे मोक्षरूपत्वं च भजनस्यैवेति भजनमेव निरूपितम्. भक्तेः मोक्षाधिकत्वन्तु श्रीभागवते बहुधैव उक्तम्. तथाहि "**सालोक्य-सार्ष्टि-सामीप्य-सारूप्य...**" इत्यारभ्य "**विना मत्सेवनं जनाः**" (भाग.पुरा.३।२९।१३) इत्यन्तं, "**स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः**" (भाग.पुरा.६।१७।२८) इति च, "**वीक्ष्य अलकावृत...**" इत्यारभ्य "**भवाम दास्यः**" (भाग.पुरा.१०।२६।३९) इत्यन्तेन पद्येन च. तेन **भजनं** सेवा मोक्षाधिका सैव कर्तव्या इति भावः. मोक्षनिरूपणे भजनस्य स्वकरणकात्यागोक्त्या पूर्वोक्त-धर्मादित्रय-करणेन भगवान् स्ववशे भवति इति ज्ञाप्यते इति भावः. एवं मोक्षस्वरूपनिरूपणे स्वमतित्वकथनेन स्वीयानामेव कर्तव्यम् इति भावो ज्ञापितः ॥४॥

इति श्रीगोकुलाधीश-वागधीशमुखच्युतम्॥
स्वमार्गधर्मार्थकाम-मोक्षाणां रूपमद्भुतम्॥१॥
तत्पादपद्मकृपया विवृतं हि यथामति॥
तेनाचार्या मयि ज्ञात्वा स्वीयतां कृपयन्तु वै॥२॥
यत्पदाब्जमरन्दालि-भावस्तुच्छीकरोति वै॥

मुक्तिं तच्चरणाम्भोजरेणुर्मह्यं प्रसीदतु ॥३॥
श्रीविठ्ठलपदाम्भोजरेणुसङ्काङ्क्षिणा मया ॥
स्वाचार्योक्ता चतुःश्लोकी निर्णीतियं यथामति ॥४॥

इति श्रीव्रजवधूप्राणेश-पादपद्मात्मक-पुष्टिमार्गचकोरनेत्रानन्द-
श्रीवल्लभाचार्योक्त-चतुःश्लोकीविवृतिः भावरसदीपिका
श्रीश्यामलतनुज-व्रजराजकृता
सम्पूर्णताम् अगात्

॥ निरोधलक्षणम् ॥

(श्रीव्रजराजकृतविवरणोपेतम्)

व्रजस्त्रीहृद्यगिरिषु रोमालियमुनातटे ॥
तद्बाहुलतिकावृन्दे क्रीडन् कृष्णो विराजते ॥१॥
गोपीशरतिमार्गाब्जमार्तण्डाचार्यसंस्कृतः ॥
मयि श्रीगोपिकाधीशनिरोधोऽस्तु महाफलः ॥२॥
स्वाचार्यचरणाम्भोजकृपया तन्निरूपितः ॥
स्वीयसौकर्यबोधाय निरोधः क्रियते स्फुटः ॥३॥
श्रीविट्ठलेशपादाब्जकृपारससुवृष्टिभिः ॥
निरोधकल्पवृक्षो मे सिञ्चितः फलितोऽभवत् ॥४॥

श्रीमदाचार्यचरणाः स्वीयेषु कृपया निरोधफलदित्सया निरोधस्वरूपं विवृण्वन्ति. तस्य फलात्मकानुशयनरूपत्वात् तत्र च प्रथमं प्राकट्यम् अपेक्ष्यते इति यथा प्राकट्यपूर्वकः सिद्धो भवेत् तथा निरूपयन्ति **यच्च** इति.

यच्च दुःखं यशोदायाः नन्दादीनां च गोकुले ॥
गोपिकानान्तु यद् दुःखं तद् दुःखं स्यान्मम क्वचित् ॥१॥

पूर्वं येन प्रकारेण व्रजे निरोधार्थं प्रभुः आविर्भूतः स मयि नास्ति इति तदभावज-दैन्येन तत्प्राप्त्यर्थं तथा प्रार्थनीयो यथा स भावो भवति इति आहुः **यच्च दुःखम्** इति. **यद् दुःखं यशोदायाः**

नन्दादीनां गोपिकानां गोकुले भगवदाविर्भावात् पूर्वम् अभूत् **तद् दुःखं मम क्वचित् स्याद्** इति सम्बन्धः. भगवदाविर्भावाद् ज्ञायते यत् सर्वेषां तत्रत्यानां तादृशं दुःखम् अभूद् येन भगवदाविर्भावो अजनि. अन्यथा भगवान् निःसाधनः दुःखाभावे न प्रकटो भवेत्. **चकारत्रयेण** तत्सम्बन्धिनामपि तादृग्दुःखम् अभूद् इति भावो ज्ञाप्यते. अन्यथा संसर्गतोऽपि दोषः स्यात्. **क्वचिद्** इति स्वस्य दैन्याधिक्यार्थम् अयोग्यत्वज्ञापनाय. **गोकुले** इति पदात् सर्वथा तत्रत्यानां निर्दोषत्वं ज्ञापितं यतः तत्र अनभिज्ञता इति न चातुर्य-कापट्यादिना दुःखम् अभूत् किन्तु साहजिकमेव॥१॥

एतद्दुःखानन्तरभावि भगवदाविर्भावजं सुखं तत्रत्यानामिव भवेद् इति प्रार्थनीयं दैन्येनेव इति आशयेन आहुः **गोकुले** इति.

गोकुले गोपिकानान्तु सर्वेषां व्रजवासिनाम्॥
यत् सुखं समभूत् तन्मे भगवान् किं विधास्यति॥२॥

गोपिकानां गोकुले इन्द्रियकुलेतु पुनः **सर्वेषां व्रजवासिनां** भगवदाविर्भावे जाते **यत् सुखं समभूत्** तत् सुखं **भगवान् किं मे विधास्यति!** अत्र अयं भावो : गोपिकानाम् इन्द्रियकुले "**आत्मानं भूषयाञ्चक्रुः**" (भाग.पुरा. १०।५।९) इति न्यायेन जातः आनन्दो भगवान् षड्गुणैश्वर्ययुक्तः सर्वं कृत्वा सर्वदानसमर्थः तादृक्स्वरूपं सम्पाद्य तथा दानं करिष्यति इति समग्रो मनोरथः. तस्य भावस्य अत्यन्तं दुर्लभत्वात् क्रमेण भविष्यति इति भावः. तु पुनः **सर्वेषामेव व्रजवासिनां** भगवदाविर्भावे जाते यः आनन्दो जातः, येन वृद्धाः बालाश्च उल्लसितहृदयाः नृत्यं कृतवन्तः, तादृशं **मे भगवान् विधास्यति!** ॥२॥

ततो भगवन्नित्यस्थित्यात्मकानन्दसुखप्रार्थनाम् आहुः उद्धवेति.

उद्धवागमने जातः उत्सवः सुमहान् यथा ॥
वृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित् ॥३॥

उद्धवागमने जाते **वृन्दावने** व्रजस्त्रीषु **गोकुले** नन्दादीषु **यथा सुमहान् उत्सवो जातः तथा मे मनसि क्वचिद्** भगवान् करिष्यति इति सताप-मनोरथः. **सुमहान्** इति पदेन पूर्वोत्सवाद् विशिष्टत्वं ज्ञाप्यते. तथाहि— उद्धवागमनात् पूर्वं मथुरास्थानां "**ततो भगवान् अत्र आगतः इति तत्रत्याः न भगवदीयाः**" इति ज्ञानं भगवतो व्रजनित्यस्थित्यज्ञानेन भवेत्. तत्र च श्रीमदुद्धवैः अत्र नित्यस्थितिः दृष्टा इति तथैव ज्ञानं भविष्यति इति मनसि उत्सवः पूर्वस्माद् विलक्षणो जातः. तथा आचार्यैः श्रीभागवतविवृतौ प्रपञ्चितम्. तादृशः उत्सवो मम मनसि क्वचित् स्याद् इति भावः. यद् वा **गोकुले वृन्दावने वा उद्धवस्य आगमने** जाते सति तत्रत्यभक्तदर्शनेन तद्भावप्राप्त्यर्थं तच्चरणरजःसम्बन्धयोग्य-जन्मप्रार्थनात्मकः **उत्सवो (यथा!)** जातः **तथा मम मनसि** स्याद् इति भावः. यद् वा उद्धवो भगवता सर्वात्मभावार्थम् अत्र प्रेषितः ; तेन अत्रत्यभक्तानाम् आधिक्यं स्वस्य च नित्यस्थितिः ज्ञापिता. तेन तस्य आगमने जाते सति यः उत्सवो वृन्दावने गोकुले वा जातः तथा इति भावः. यतो सर्वात्मभावः तथैव भवति. एतदेव निरोधस्थानम्. तेन तथा दानेच्छा येषु तत्रैव प्रेष्यन्ते इति उत्सवो भवति, तद्दानार्थं वा, **तथा मे** मदुपरि भगवन्**मनसि** तासां वा स्याद् इति भावः ॥३॥

ननु एतावान् मनोरथो भावनयैव कथं सिद्ध्येद् इति आशङ्क्य "**श्रीमदाचार्यकृपयैव सेत्स्यति**" इति विश्वासपूर्वकं भावनीयं, तेन

भविष्यत्येव इति आहुः **महताम्** इति.

महतां कृपया यावद् भगवान् दययिष्यति ॥
तावदानन्दसन्दोहः कीर्त्यमानसुखाय हि ॥४॥

महतां कृपया भगवान् यावद् दययिष्यति दयां करोति **तावद् आनन्दसन्दोहः** कृपारूपः **कीर्त्यमानसुखाय** पूर्वोक्ताय स भावो भवति इति अर्थः. यद् वा **भगवान् यावत् महतां** कृपां करोति **तावत्** कृपया जीवस्य सताप-दैन्यदर्शनेन दयां करिष्यति तदा **आनन्दसन्दोहः कीर्त्यमानः सुखाय** स्याद् इति भावः. **भगवान् कीर्त्यमानः सुखाय यावद् महतां कृपया दययिष्यति तावद्** वा स्यात्. अयम् अर्थो : यावद् भगवान् दयां करिष्यति तावद् महतां कृपया पूर्वमेव दयातः कीर्त्यमानः सुखाय आनन्दसन्दोहः स्याद् इति भावः ॥४॥

ननु श्रीमदुद्धवागमनजातोत्सवस्य विप्रयोगस्फूर्त्या दुःखसम्भावनरूपत्वात् सुखस्य महत्कृपया जातेऽपि तस्मिन् कथं निर्वाहः इति आशंक्य आहुः **महताम्** इति.

महतां कृपया यद्वत्   कीर्तनं सुखदं सदा ॥
न तथा लौकिकानान्तु स्निग्धभोजनरूक्षवत् ॥५॥

महतां कृपया सदा कीर्तनं सुखदं भवति इति शेषः. अयं भावः : **सदा** तस्मिन्नपि समये **कीर्तनं** तेषामेव **कृपया सुखदं** प्राणबाधायां जीवनार्थं भवति इति भावः. **यद्वत्** महत्त्वम् इति अर्थः. ननु विप्रयोगे गुणानां जीवनत्वं न अनुभवसिद्धम् इति आशंक्य अस्य अलौकिकत्वात् तथा भवति, लौकिकानां न तथात्वम् इति आहुः

न तथा इति. तु पुनः **लौकिकानां न तथा** सुखं भवति इति अर्थः. तत्र निदर्शनम् आहुः **स्निग्धभोजनरूक्षवद्** इति. स्निग्धभोजकस्य **रूक्षवत्** रूक्षभोजनं यथा न सुखं जनयति तथा इति अर्थः ॥५॥

ननु ज्ञानस्य दुःखनिवारकत्वं श्रूयते, न गुणगानस्य इति आशंक्य आहुः **गुणगाने** इति.

गुणगाने सुखावाप्तिर्गोविन्दस्य प्रजायते॥
यथा तथा शुकादीनां नैवात्मनि कुतोऽन्यतः ॥६॥

गोविन्दस्य गुणगाने यथा सुखावाप्तिः प्रजायते तथा शुकादीनाम् आत्मनि नैव जायते, अन्यतः कुतः स्याद् इति अर्थः. शुकस्य चेद् गुणगानेन सुखं स्यात् तदा स्वानुभूतं स्वयमेव अवश्यः कथयेत्, नतु "स्वामिन्यः एवं गानं कुर्वन्ति" इति वदेत्. यद्वा **गुणगाने** कृते **गोविन्दस्य** भगवतोऽपि **यथा सुखावाप्तिः प्रजायते तथा शुकादीनाम् आत्मनि नैव** भवति इति अर्थः. अन्यथा भगवानिव तेऽपि तद्दुःखदुःखिताः भवेयुः. भगवतः तथात्वं "**मणिधरः...**" (भाग.पुरा.१०।३२।१८) इति श्लोकादिषु निरूप्यते. यद्वा **गोविन्दस्य गुणगाने** या **सुखावाप्तिः** पुष्टिस्थानां भवति सा **शुकादीनां** भगवद्गुणगानानन्दसुखानामपि **न** इति अर्थः. अयम् अर्थो : '**गोविन्द**'पदेन व्रजवधूनाम् इन्द्रियस्य ये गुणाः तद्गुणगानेनैव आसां तथा भवति, शुकादीनां सर्वावतारचरित्रमिश्र-गुणगानात् तथात्वं न भवति इति भावः. अतएव निरोधचरित्रकथनप्रस्तावे प्रथमाध्याये सूतोक्तौ तदन्तःस्थितो भगवानेव उत्तरं प्रयच्छति इति "**सभगवान् अथ विष्णुरातम्**" (भाग.पुरा.१०।१।१४) इत्यस्मिन् पद्ये निरूपितम्॥६॥

गुणगानमात्रेणैव कथं भगवान् निरोधात्मके कृपां कुर्याद् इति

आशंक्य तत्स्वरूपम् आहुः **क्लिश्यमानान्** इति.

क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत्।।
तदा सर्वसदानन्दं हृदिस्थं निर्गतं बहिः ।।७।।

जनान् क्लिश्यमानान् दृष्ट्वा यदा कृपायुक्तो भवेत् तदा हृदिस्थं सर्वसदानन्दं बहिर्निर्गतं कुर्याद् इति सम्बन्धः. अत्र अयं भावो : गुणगानस्य विप्रयोगतापे जीवनैकस्वभावत्वात् तत्तापाप्त्यर्थं भगवदिच्छाकांक्षया तापसहने गुणगाने कृते सति **जनान्** लौकिकदेहयुक्तान् यतो अलौकिकदेहे तापस्तु आनन्दरूपएव भवति तान् **क्लिश्यमानान् दृष्ट्वा**, **यदा** इति तस्य दुर्लभत्वात्, **कृपायुक्तो भवेत् तदा हृदिस्थं** स्वहृदिस्थं **सर्वसदानन्दम्** आधिदैविकशक्तिरूपं **बहिः निर्गतं** कुर्याद् इति अर्थः. गुणगानकर्तुः भावात्मकस्वरूपं तद्धृदिस्थं बहिः प्रकटं कुर्याद् इति वा।।७।।

ननु भगवतः सर्वमेव आनन्दरूपमिति गुणाअपि आनन्दरूपाः, तेन गुणगानस्यापि आनन्दरूपत्वात् कृपया भावात्मकानन्दस्य बहिःप्रकट-करणरूपस्य को विशेषः इति आशंक्य आहुः **सर्वानन्दमयस्यापि** इति.

सर्वानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभः ।।
हृद्गतः स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्णः प्लावयते जनान्।।८।।

सर्वानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभः इति अर्थः. '**सर्वानन्दमय**'शब्देन भगवतो गुणादयोऽपि भगवद्रूपाः जीवेषु रसरूपप्रतिपादनपूर्वक-रसदातारः इति ज्ञाप्यते. एतज्ज्ञापनायैव '**मयट्**'प्रयोगः. '**मयट्**' प्राचुर्ये, तेन सर्वमेव भगवदीयम् आनन्दप्रचुरम् इति अर्थः. अतएव गुणगानेन

रमणं फलप्रकरणान्तर्गत-द्वितीयाध्याये निरूपितम्. '**अपि**'शब्देन बहिःस्वरूपप्राकट्यात्मक-कृपानन्दस्य कथनविशेषो ज्ञाप्यते. सच कुमारिकाव्रताय अवान्तरफल-परमफलरूपः इति भावः. तासाञ्च गुणगानानन्तरं परमफलप्राप्तिः, तथैव सर्वत्र निरोधाधिकारिणाम् इति आशयः. कृपानन्दस्य 'दुर्लभत्वो'क्त्या अनुग्रहैकलभ्यत्वं ज्ञाप्यते. ननु अनुग्रहेतरासाध्यत्वे गुणानामपि तथात्वं स्याद् इति आशंक्य आहुः **हृद्गतः** इति. **हृद्गतः स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्णो** भूत्वा **जनान् प्लावयते** मग्नान् कुरुते रासाब्धौ इति शेषः. कृपयैव पूर्वम् अष्टादशाध्यायोक्तन्यायेन वेणुद्वारा हृद्गतो भवति, ततः तथैव तद्वर्णनेन स्वयं तत्तापयुक्तो भवति. एतदेव पूर्णत्वम्, अतएव द्वात्रिंशाध्याये अस्मद्भावप्राणनाथैः "**द्वात्रिंशेऽन्तर्गोपिकानाम्**" इत्यारभ्य "**येनैव पूर्णानन्दः इतीर्यते**" (सुबो.१०।३२।०।का.१) इत्यन्तं पूर्णत्वं निरूपितं पूर्वतदभावज्ञापकम्. यद्वा **स्वगुणान्** तद्वर्णनेन तापकान् कृत्वा विप्रयोगदलेन अपूर्णत्वात् स्वरूपस्य द्वितीयं दलं प्रकटीकृत्य **पूर्णः** सन् रसैः **प्लावयते** इति भावः. स्वगुणोद्भूततापानां स्वस्य तेषां दुःखदूरीकरणं युक्तमेव इति भावः. भगवद्गुणानां रसात्मकानां रसरूपतापोद्बोधकतातु "**पूर्णाः पुलिन्द्यः**" (भाग.पुरा.१०।१८।१७) इत्यादिषु स्फुटमेव निरूपिता, तेन गुणगानस्य तत्साधकत्वम् इति भावः. गुणानाञ्च भगवद्रूपत्वाद् अनुग्रहेतरकोटिसम्भावना न कर्तव्या॥८॥

यस्माद् गुणानां तत्साधकत्वं तस्माद् गुणगानं स्वरूपज्ञानपूर्वकं कर्तव्यम् इति आहुः **तस्माद्** इति.

तस्मात् सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सर्वदा गुणाः॥
सदानन्दपरैर्गेयाः सच्चिदानन्दता स्वतः॥९॥

यतो गुणाः तत्साधकाः **तस्मात् सर्वं परित्यज्य सर्वदा** सर्वकाले **निरुद्धैः** तद्भावापन्नैः **गुणाः गेयाः** इति अर्थः. सदानन्दत्वेन परिज्ञेयाः इति भावः. अयं भावः : "**सन्त्यज्य सर्वविषयान्**" (भाग.पुरा.१०।२९।३१) इति तत् **सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः** सह इति शेषः. "**स्वसखीभ्योऽन्ववर्णयन्**" (भाग.पुरा.१०।१८।३) इतिवत् तैः सह गुणाः गेयाः इति भावः. गुणान् विशिनष्टि स्वरूपज्ञानार्थं **सदानन्देन** कृष्णेन परिज्ञेयाः इति भावः. अयम् अर्थो : गुणगानगुणाः प्रभुणैव ज्ञेयाः, येन तान् श्रुत्वा स्वयं तद्वशो भूत्वा स्वरूपरसदानं करोति. ननु गुणेषु सदानन्दत्वाभावाद् एतज्ज्ञाने कथं तत्र तत्त्वं स्याद् इति आशंक्य आहुः **सच्चिदानन्द**...इति. **स्वतः** तेषु **सच्चिदानन्दता** सिद्धा इति अर्थः. यतः तेषु स्वतः सच्चिदानन्दता अतः तथा ज्ञात्वा गेयाः इति भावः ॥९॥

ननु निरुद्धानां गुणगानं युक्तम् इति सिद्धं, फलासाधकानां साधनदशायां कथं गुणगानं स्याद् इति आशंक्य स्वानुभवात्मक-पूर्वस्वोक्तनिरोधस्वरूपम् आहुः **अहम्** इति.

अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपदवीं गतः ॥
निरुद्धानान्तु रोधाय निरोधं वर्णयामि ते ॥१०॥

अहं रोधेन निरुद्धः निरोधपदवीं गतः इति अर्थः. अत्र अयं भावो : भगवता येषु जीवेषु कृपया निरोधो विचार्यते सच निरुद्धभक्तसंगेनैव सिद्धो भवति न अन्यथा इति निरुद्धान् आज्ञापयति भुवि प्राकट्यार्थम्. तत्संगेन जातो यः तीव्रतापः सः '**रोध**'पदवाच्यो भवति. श्रीमदाचार्याणामपि दैवजीवभक्तिनिरोधार्थं प्राकट्यात् प्रभ्वाज्ञाद्वयाकरणात् तत्संगजनिततापस्य रोधत्वम्, इति भावः. एवञ्च सति उक्तरीत्या तेषां **रोधेन** अनुरोधेन

भगवता **निरुद्धः निरोधपदवीं** पुरः प्रकटरूपेणैव **गतः** इति भावः. निरोधफलस्य विप्रयोगतापानन्तरभावित्वाद् आचार्याणां च लीलामध्यपातिस्वरूपस्य विप्रयोगासम्भवाद् भगवता जीवेषु कृपया तद्दर्शनार्थं तथा प्राकट्यार्थम् आज्ञप्तम्. श्रीमदाचार्यैरपि तद्दर्शनार्थं स्वानुभवएव प्रदर्श्यते, "यथा अहं रोधेन रुद्धः तथा अभूवम्. तथा लौकिके निरुद्धानां रोधार्थं निरोधं कथयामि" इति आहुः **निरुद्धानान्तु** इति, लौकिके इति शेषः. यद्वा निवेदनेन एतत्स्वरूपेणैव निरोधयोग्यता भवति इति आशयेन आहुः **निरुद्धानाम्** इति. **निरुद्धानां** स्वनिवेदितानां **रोधाय** भगवत्कृतलौकिकासक्त्यभावाय **निरोधं वर्णयामि** इति भावः. **ते** तव इति अर्थः. **ते** इति एकवचनेन एतच्छ्रोतुः दुर्लभत्वं ज्ञापितम्॥१०॥

एवं प्रतिज्ञाय निरुद्धस्वरूपमेव आहुः **हरिणा ये** इति.

हरिणा ये विनिर्मुक्तास् ते मग्ना: भवसागरे॥
ये निरुद्धास्तएवात्र मोदम् आयान्त्यहर्निशम्॥११॥

हरिणा ये विनिर्मुक्ताः ते भवसागरे मग्नाः भवन्ति इति अर्थः. अत्र अयं भावो : (**हरिणा!**) अकारणं सर्वदुःखहर्त्रा तत्साधनम् अविचार्य दुःखहरणशीलेन **ये विशेषेण निर्मुक्ताः** भावात्मकस्वरूपोद्बोधरहिताः कृताः येन च (**भव!**) **सागरे** संसारसागरे **मग्नाः** दुःखमेव प्राप्नुवन्ति इति अर्थः. येतु **अत्र** अस्मिन्नेव जन्मनि भावात्मकस्वरूपेण **निरुद्धाः ते अहर्निशं मोदम् आयान्ति** सन्तोषं प्राप्नुवन्ति इति अर्थः. '**अहर्निश**'पदेन भावात्मकतया गोपस्त्रीवद् गोपवत् च मोदं प्राप्नुवन्ति इति व्यज्यते. अहनि व्रजवरविलासिनीवद् रात्रौ गोपवत्॥११॥

ननु तासां तेषां च विप्रयोगक्लेशे गुणगानदशासमयः, तस्य

कथं मोदरूपता ? इति आशंक्य आहुः **गुणेषु** इति.

गुणेष्वाविष्टचित्तानां सर्वदा मुरवैरिणः ॥
संसारविरहक्लेशौ न स्यातां हरिवत् सुखम् ॥१२॥

मुरवैरिणः गुणेषु आविष्टचित्तानां सर्वदा संसारविरहक्लेशौ न स्याताम् इति सम्बन्धः. अत्र अयं भावो : मुरस्य जलदोषात्मकत्वात् सागरस्थितस्य 'वैरित्वो'क्त्या रससागरदोषनिवारकत्वं व्यज्यते. तस्य **गुणेषु** आनन्दमयेषु विरहसामयिकोत्कटतापनिवारक-जीवनहेतुभूतेषु **आविष्टचित्तानां** तौ **न स्याताम्** इति भावः. चित्ते हि आवेशोक्त्या अन्यावेशाभावो बोध्यते, अतएव '**सर्वदा**' इति उक्तं भगवत्सेवार्थव्यावृत्तावपि तत्परत्वार्थम्. यथा उक्तं जीवोत्कटतापनिवर्तकाचार्यैः भक्तिवर्धिन्यां "**व्यावृत्तोऽपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत् सदा**" (भ.व.३) इत्यादिना. एवं गुणाविष्टचित्तानां भगवति संसारस्य अहन्ताममतात्मकस्य विरहाभावः इति यावद्, विप्रयोगजः क्लेशः च, तौ उभावपि न स्याताम्. अयम् अर्थो : भगवति अहन्ताममतासहित-नित्यसंयोगएव भवेत्, सुखं भवेद् इति शेषः. तत्र निदर्शनम् आहुः **हरिवत्**. **हरिवत् तौ न स्यातां सुखं भवेत्**. अत्र अयं भावो : भगवतो जीवेषु अहन्ताममताभावो कदापि यथा न भवति स्वकीयत्वात्, तेषां तद्विप्रयोगजक्लेशोऽपि तथा. "**भवतीनां वियोगो मे न हि सर्वात्मना**" (भाग.पुरा.१०।४४।२९) इति भगवतैव उक्तः तदभावः. निवेदनानन्तरं भगवत्स्वरूपात्मकतैव सिद्ध्यति. एवं सति भगवानिव तौ न स्यातां, सुखं च स्यादेव इति भावः ॥१२॥

भगवतः एवंकरणे दयालुतां हेतुत्वेन आहुः **तदा** इति.

तदा भवेद् दयालुत्वम् अन्यथा क्रूरता मता ॥

बाधशंकापि नास्त्यत्र तदध्यासोऽपि सिद्ध्यति ॥१३॥

यदा पूर्वोक्तप्रकारेण सुखं स्यात् तदा भगवति **दयालुत्वं भवेत्**. **अन्यथा** मर्यादादिप्रवेशेन **क्रूरता मता** सम्मता पुष्टिस्थानाम् इति शेषः. भगवता एवंकरणे अभिमानादि-बाधशंका मर्यादाद्यतिक्रमात् तत्कृतबाधो वा भवेद् इति आशंक्य न इति आहुः **बाधशंकापि** इति. **अत्र** अस्मिन् मार्गे **बाधशंकापि नास्ति**. '**अपि**'शब्देन तच्छंकैव नास्ति कुतः पुनः बाधः इति भावो व्यज्यते. भगवदध्यासस्य दृढत्वाद् देहाध्यासाभावाद् न बाधशंका इति आहुः **तद्** इति. **तस्य** भगवतो **अध्यासोऽपि सिद्ध्यति** इति भावः. '**अपि**' शब्देन भगवतोऽपि एतदध्यासो रसरीत्या सिद्ध्यति इति बोध्यते॥१३॥

ननु भगवतो दयालुत्वे सुखोत्पादकता भवतु, परम् अस्य लौकिकत्वाद् भगवतो अलौकिकत्वात् कथम् एतस्य लौकिकनिरुद्धा निरोधसिद्धिः इति आशंक्य आहुः **संसार...** इति.

संसारावेशदुष्टानाम् इन्द्रियाणां हिताय वै॥
कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्नः ईशाय योजयेत्॥१४॥

संसारावेशेन दुष्टानाम् इन्द्रियाणां हिताय वै निश्चयेन तानि **ईशाय योजयेद्** इति सम्बन्धः. अत्र अयम् अर्थः : संसारावेशेन भगवद्विनियोगप्रतिबन्धः स्यात्. तेन तदावेशो दुष्टइति तदभावार्थम् इन्द्रियाणां निश्चयेन यथा हितं भवति, तानि भगवदर्थं योजयेत्. तेन तथात्वं भवेत्. ननु एतत्सामग्र्याः पूर्वं लौकिको दोषो निरूपितः इति आशंक्य तस्य दोषस्य वस्तुस्वरूपज्ञाने सुरूपतेति वस्तुस्वरूपम् आहुः. यतो **वस्तूनि सर्वाणि भूम्नः कृष्णस्य** अतो समर्पिते लौकिकत्वं

न आशंकनीयम् इति भावः. “**क्रीडार्थमात्मनः इदं त्रिजगत् कृतं ते**” (भाग.पुरा.८।२२।२०), “**क्रीडाभाण्डम् विश्वम् इदम्**” (भाग.पुरा.-४।७।४३) इत्यादिषु तथैव निरूपितम्. किञ्च स भूमा = समर्थो भवति लौकिकनिवारणपूर्वकम् अलौकिकत्वसम्पादकः. स्वयं च लौकिकरसभोगार्थं स्वस्वरूपमर्यादोल्लङ्घनेनापि स्वभक्तवश्यता स्थित्या तद्भावानुसारेण तस्य रसदानार्थं रमणं करिष्यति इति भावः. यद्वा **संसारावेशदुष्टानाम् इन्द्रियाणां** सम्बन्धीनि **सर्ववस्तूनि** भावात्मकानि **वै** निश्चयेन **कृष्णस्य हिताय** रसभोगार्थं **योजयेत्**. **भूम्नः** इति विशेषणेन स्वस्यापि रसभोगः सिद्ध्यति इति ज्ञाप्यते. कीदृशाय **हिताय? ईशाय** आधिदैविकाय इति अर्थः ॥१४॥

ननु संसाराविष्टचित्तदुष्टानां कथं तत्र विरागेण भगवति अनुरागपूर्वकं समर्पणं स्याद् इति आशंक्य आहुः **भगवद्धर्मसामर्थ्याद्** इति.

भगवद्धर्मसामर्थ्याद् विरागो विषये स्थिरः ॥
गुणैः हरिसुखस्पर्शाद् न दुःखं याति कर्हिचित् ॥१५॥

भगवद्धर्मसामर्थ्याद् विषये विरागः स्थिरः स्याद् इति अर्थः. भगवद्धर्माणाम् एतादृशमेव सामर्थ्यं येन तद्धर्मप्रवेशमात्रेणैव लौकिके विषये विरागः स्यात्. तदनन्तरं **गुणैः** भगवदीयैः वर्णितैः अलौकिकस्वरूपेण हरिसुखं **हरेः सुखस्य स्पर्शं** प्राप्नोति. **कर्हिचिद्** भगवदिच्छया परीक्षाद्यर्थकृतमपि **दुःखं न याति** इति अर्थः. यद्वा **भगवद्धर्मसामर्थ्याद् विषये** भगवदीये **विशिष्टो रागः स्थिरः** स्यात्. किञ्च गुणैः हरिसुखस्पर्शं याति. अयं भावो : गुणगानेन अलौकिकत्वे सम्पन्ने हरेरपि सुखरूपः स्पर्शो यस्य तादृग्भावं प्राप्नोति इति अर्थः. किञ्च हृदयतो **दुःखं** विप्रयोगक्लेशानन्दानुभवात्मकं **कर्हिचिद्** अपि **न (याति!)** गच्छति इति भावः ॥१५॥

एवं निष्प्रत्यूहं तत्स्वरूपं निरूप्य तत्कर्तव्यप्रकारम् आहुः **एवम्** इति.

एवं ज्ञात्वा ज्ञानमार्गाद् उत्कर्षो गुणवर्णने॥
अमत्सरैरलुब्धैश्च वर्णनीयाः सदा गुणाः॥१६॥

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण **ज्ञानमार्गाद् उत्कर्षो** निरूपितः तं **गुणवर्णने ज्ञात्वा अमत्सरैः** मत्सरादि-दोषरहितैः ज्ञानादिषु **अलुब्धैः** स्वस्य रसभोगेच्छायां भगवदिच्छार्थं **गुणाः सदा वर्णनीयाः** इति भावः. **'सदा'** इति पदेन क्षणमपि अन्यथा न स्थेयम् इति ज्ञापितम्. यद्वा **गुणवर्णने** यः **उत्कर्षः** तं **ज्ञानमार्गात्** "सर्वं भगवदर्थम्" इति रूपाद् भगवदुपदिष्ट-गोपतुल्याद् (द्रष्ट. : भाग.पुरा.१०।१२।५) **ज्ञात्वा सदा अमत्सरैः** सापत्न्यादि-दोषरहितैः **अलुब्धैः** भगवतः स्वामृतग्रहणसमये मानादिदोषरहितैः **गुणाः वर्णनीयाः** तद्भावाप्त्यर्थं व्रजविलासिनीवत् स्वसमानशीलेषु इति शेषः॥१६॥

एवं गुणवर्णनस्य आवश्यकत्वं सोपपत्तिकम् उपपाद्य तद्वर्णने क्लेशसहनात्मकं दूषणम् उद्भाव्य परिहरन्ति **हरिमूर्तिः** इति.

हरिमूर्तिः सदा ध्येया संकल्पादपि तत्र हि॥
दर्शनं स्पर्शनं स्पष्टं तथाऽऽकृतिगती सदा॥१७॥

सदा हरिमूर्तिः ध्येया इति सम्बन्धः. अकारणसर्वदुःखहर्त्रा दुःखहरणार्थमेव मूर्तिधारकः, तस्य ध्येया इति भावः. हि इति युक्तश्च अयम् अर्थः, स्वस्य तदर्थप्रयोजनात् सैव ध्येया. ननु तद्ध्यानमात्रेण कथं दुःखनिवृत्तिः स्याद्? अतः आहुः **दर्शनम्** इति. ध्यानेन **दर्शनं**

स्पर्शनं च **स्पष्टम्** एव भवति इति अर्थः. ननु दर्शनं स्पर्शनं च योग्यरूपाभावे कथं स्याद् इत्यतः आहुः **तथा** इति. ध्यानेन **तथा आकृतिः गतिः** च भवेताम्. **सदा** इति नित्यम् इति अर्थः. न स भावः पुनः अन्यथा भवेत्॥१७॥

ननु एतत् सर्वं फलदशायां सम्भवति, न साधनदशायाम् इति आशंक्य साधकानां तत्सिद्ध्यर्थम् उपायम् आहुः **श्रवणम्** इति.

श्रवणं कीर्तनं स्पष्टं पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः॥
पायुर्मलांशत्यागेन शेषभागं तनौ नयेत्॥१८॥
यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते॥
तदा वामहस्तविधिः कर्तव्यः इति निश्चयः॥१९॥

श्रवणं कीर्तनं तथात्वसम्पादकं **स्पष्टम्** एव, तस्मात् कर्तव्यं, तत्करणेन तथात्वं स्याद् इति अर्थः. तथाभूतस्य दुःसंगवर्जनम् आहुः. भगवदप्रियस्य त्यागे निदर्शनम् आहुः **पायुः** इति. **मलांशत्यागेन** यथा **पायुः** गृह्यते तथा बहिर्मुखपुत्रादित्यागेन **शेषभागं तनौ** स्वकीयत्वेन **नयेत्** ननु सर्वेषाम् आत्मा भगवानेव अस्ति तस्मात् कथं त्यक्तव्याः? स्वान्तरंगत्वादपि त्यागो अनुचितः इति आशंक्य आहुः **यस्य** इति, यस्य भगवत्कार्यं स्पष्टं न भवति स न भगवदंशः किन्तु प्रकृत्यंशएव. आन्तरं तथा भावे बाह्यमपि तथैव भवति, अन्यथा तु पाषण्डित्वमेव. अतएव निबन्धे अस्मत्प्राणेश्वरैः "**कृष्णसेवापरम्**" (त.दी.नि. २।२२७) इति श्लोकविवरणे "**सेवापर(एव!) गुरुः**" इत्यादिना तथैव निरूपितम्. विकल्पेन यस्य अर्थे भगवान् स्वकार्यं रसरूपं स्पष्टं करोति एवं न दृश्यते इति व्यज्यते. **तदा** अपि निरूपितो यो हस्तः **वामहस्तः** तस्य **विधिः कर्तव्यः**. अयम् अर्थो : यथा मलांशत्यागानन्तरं वामहस्तस्य शुद्धिं विधाय सर्वकार्योपयोगित्वं क्रियते तथा तस्य स्वात्मजत्वात् तत्र स्वांशस्य भगवति निवेदनं कृत्वा स्वांशं स्वस्मिन् आवेश्य तस्य

त्यागो विधेयो अस्मिन् अर्थे **निश्चयो** न सन्देहः इति अर्थः ॥१९॥

एवं निरोधस्वरूपं निरूप्य अन्यनिषेधपूर्वकम् एतत्करणार्थम् अस्य सर्वाधिकत्वम् उक्त्वा उपसंहरन्ति नातः **इति.**

नातः परतरो मन्त्रो नातः परतरः स्तवः ॥
नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात्परम् ॥२०॥

॥ इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणविरचितं निरोधलक्षणम् ॥

अतः परतरो मन्त्रो न अस्ति. तेन मन्त्रादिषु विश्वासं विहाय अयमेव ग्रन्थो जाप्यः. एतदुक्तप्रकारेण स्थेयम् इति अर्थः. **अतः परतरो** अन्यः स्तवो न. **तेन एतदुक्तप्रकारेणैव प्रभुः** स्तुत्यः इति **अर्थः.** अतः **परतरा विद्या** अपि न. या विद्या एकोनविंशाध्याये व्रतप्रस्तावे निरूपिता सा इयमेव इति अर्थः. **अतः परतरं तीर्थम्** अपि न. तीर्थे प्रतिबन्धकपापनिवर्तकत्वम् अस्ति , नतु आधिदैविकप्रतिबन्धनिवर्तकत्वम्. अस्यच आधिदैविकतन्निवर्तकत्वम् अस्तीति न अतः परतरं तन्निवारकम् अन्यद् इति भावः. तस्मात् प्रतिबन्धकापगमार्थम् एतदेव स्तोत्रं सेव्यम् इति भावः ॥२०॥

इति श्रीगोपिकाधीशवल्लभाचार्यसूचितः ॥
निरोधो विवृतस्तेन सदा तुष्यन्तु ते मयि ॥१॥
निरोधसंशयोऽनेन प्रकारेण सदा बुधैः ॥
छेत्तव्यः इति हि ज्ञात्वा तत्कृपातो विवेचितः ॥२॥

इति श्रीश्यामलात्मज-श्रीव्रजराजविरचितं
निरोधलक्षणविवरणं सम्पूर्णम्

॥ संवत्सरोत्सवकल्पलता ॥

(श्रीव्रजराजकृता)

(मंगलाचरणेन उपक्रमः)

श्रीगोकुलेशपादाब्जपरागपरिपूर्तये ॥
कायवाङ्मनसा नित्यं वन्दे वल्लभनन्दनम् ॥१॥
श्रीविठ्ठलेशपादाब्जपरागारक्तचेतसा ॥
पुष्टिमार्गप्रवृत्तानां भक्तानां बोधसिद्धये ॥२॥
*संवत्सरस्य रूप्यन्ते पर्वयात्रामहोत्सवाः ॥
यज्ज्ञानेन कृताः सर्वे फलन्त्येव हि सर्वथा ॥३॥
तथा चैकादशे स्कन्धे श्रीकृष्णेनोद्धवं प्रति ॥
निरूपितन्तु सेवार्थं पर्वादित्रयमेव हि* ॥४॥
संवत्सरोत्सवदलैर् युक्ता कल्पलता मया ॥
क्रियते ते च सन्तुष्टाः सदा सन्तु मयीश्वराः ॥५॥

(श्रीकृष्णजन्माष्टमी)

भगवज्जन्ममूलत्वात् पूर्वं भागवतोत्सवाः ॥
निर्णीयन्ते विचारेण सप्रमाणं यथामति ॥१॥
मासि भाद्रपदे कृष्णा जन्माष्टम्युच्यते बुधैः ॥
तस्यामेव हि शुद्धायाम् उत्सवः कृष्णसेवकैः ॥२॥
कर्तव्यः सर्वभावेन मंगलादियुतः सदा ॥
तदंगत्वेनोपवासः कार्यो ह्यानन्दसिद्धये ॥३॥

पुस्तकत्रये अधिकं वर्तते तत् * चिह्नान्तर्गतं ज्ञेयम्।

सूर्योदये सप्तमी चेत् तदा त्याज्याऽष्टमी बुधैः ॥
तथैव चाष्टमीवृद्धौ द्वितीयैव प्रशस्यते ॥४॥
शुभकार्योत्सवांगत्वात् नवमीयोगतस् तथा ॥
तत्र शुद्धस्वरूपन्तु सप्तमीवेधवर्जितम् ॥५॥
यदा पूर्वं सप्तमी स्याद् अष्टमी च क्षयं गता ॥
तदा शुद्धा नवम्येवोपोष्या स्वाचार्यवाक्यतः ॥६॥
पुरुषोत्तमप्राकट्यं यतो नन्दगृहे मतम् ॥
तत्रोत्सवो नवम्यान्तु प्राकट्यं च तथैव हि ॥७॥
श्रीमदाचार्यचरणैर् अतएव निरूपितम् ॥
'अनेने'त्यादि* 'नवमी ह्युपोष्ये'त्यन्त्यतः स्फुटम् ॥८॥
एतदेवाभिसन्धाय प्रोक्तं श्रीविठ्ठलेश्वरैः ॥
'यदि'त्यारभ्य** 'पूर्वोक्ता रीतिरेवे'ति संस्फुटम् ॥९॥
'रीतिरि'त्युक्तितः पूर्वविद्धा मान्या कदापि न ॥
अन्यथा पूर्वविद्धेति त्यक्ता रीतिः कथं कृता ॥१०॥
अन्यथा श्रीमदाचार्योक्तौ विरोधो भवेत् स्फुटः ॥
तद्विरोधेन कथनं न श्रीविठ्ठलसम्मतम् ॥११॥
तस्माद् उक्तस्वरूपेणैवोत्सवोपोषणं मतम् ॥
तत्रच प्रातरारभ्य कृत्यम् अत्र निरूप्यते ॥१२॥
प्रातः स्नात्वा च विधिना प्रबोध्य व्रजवल्लभम् ॥
मंगलारार्तिकं कृत्वा पञ्चकैः स्नापयेच्छुभम् ॥१३॥
पीताम्बरपरिधानं कारयित्वा व्रजाधिपे ॥
कुंकुमाक्षतसंयुक्तं ताम्बूलद्वयसंयुतम् ॥१४॥
धृत्वा पात्रं करे कुर्यात् तिलकं गोकुलाधिपे ॥
प्राणान् आयम्योत्सवांगस्नानं पञ्चामृतेन हि ॥१५॥

---

*सुबो.१०।३।४७ (सम्पा.) **"तत्र यदि एतद्वचनं समूलकं तदा तथैव नोचेत् पूर्वोक्तरीतिरेव अनुसर्तव्या" जन्माष्टमीनिर्णयः (सम्पा.)

कारयिष्ये व्रजेशाय संकल्प्यैवं समाहितः ॥
भेरीमृदंगघोषैश्च गीतवादित्रमंगलैः ॥१६॥
पञ्चामृतेन सप्रेम स्नपनं कारयेद् विभोः ॥
शंखस्थैः पञ्चभिः स्नानं सुशीतेन च वारिणा ॥१७॥
पञ्चामृतन्तु सप्रेम मूलमन्त्रेण कारयेत् ॥
कृत्वा प्रोञ्छनम् अंगानां दूरीकृत्यार्द्रतां ततः ॥१८॥
सुगन्धतैलोद्वर्ताभ्यां कुंकुमेन सुगन्धिना ॥
आनन्दितः कारयेद् वै ह्यभ्यंगं चोष्णवारिणा ॥१९॥
ततः प्रोञ्छनम् अंगानां कुर्याद् वस्त्रैश्च नूतनैः ॥
ततो महार्हालंकारैर् वस्त्रैः कुंकुमरञ्जितैः ॥२०॥
अलंकुर्वीत गोपीशम् उष्णीषादिभिरञ्जितैः ॥
ततो विप्राय दद्याच्च दक्षिणां प्रेमसंयुतः ॥२१॥
कुंकुमाक्षतताम्बूलद्वयं साराार्तिकं करे ॥
पात्रं स नालिकेरीयमुद्राद्वयसमन्वितम् ॥२२॥
धृत्वा सुशोभनं कुर्यात् तिलकं गोपिकापतेः ॥
गीतवादित्रघोषैश्च कुर्याद् आरार्तिकं विभोः ॥२३॥
नालिकेरद्वयं मुद्राद्वयं चापि तथैव हि ॥
निवेद्य कृष्णपादाग्रे दण्डवत् प्रणमेद् भुवि ॥२४॥
"नन्दनन्दन! गोपीश! यशोदाप्राणवल्लभ! ॥
यादृशोऽस्मि हरे कृष्ण! तादृशं मां हि पालय ॥२५॥
यादृशोऽसि हरे कृष्ण! तादृशाय नमो नमः" ॥
एवम् उच्चार्य शनकैः प्रेमविह्वलचेतसा ॥२६॥
पुलकोद्भिन्नसर्वांगस्त्रिवारं प्रणमेद् विभुम् ॥
ततः सम् अर्पयेच्छक्त्या पक्वान्नं सुशृतं* पयः ॥२७॥
यशोदानन्दगोगोपी-गोपादिभिरलंकृतम् ॥

---

* 'सुशृतेन' पाठभेदः के, घे।

सतिलं सगुडं भुंक्ष्व कृपयेति वदन् मुहुः ॥२८॥
ततश्च विधिवत् सेवां यथापूर्वां समाचरेत् ॥
ततः श्रीकृष्णविश्रामसमये वैष्णवैः सह ॥२९॥
मध्याह्नसमये कृष्णकथाभिः स्मरणेन च ॥
ततः सायाह्निकं कृत्यं यथापूर्वं विधाय वै ॥३०॥
निशीथे ह्युदिते चन्द्रे कुर्याद् जन्मोत्सवं विभोः ॥
भगवन्निकटे स्थित्वा ह्येकाकी प्रेमसंयुतः ॥३१॥
व्रजं ध्यात्वा ततः कृष्णं पूर्णं श्रीपुरुषोत्तमम् ॥
कन्दर्पकोटिसौन्दर्यं प्रादुर्भूतं विचिन्तयेत् ॥३२॥
ततः शंखमृदंगादिभेरीशब्दैः सुमंगलैः ॥
संकल्प्य च विधानेन प्रादुर्भावांगमादितः ॥३३॥
कारयेत् पञ्चकैः स्नानं कुंकुमेन तथा विभोः ॥
पीताम्बरैर्भूषयित्वा सुगन्धैः पुष्पमाल्यकैः ॥३४॥
कुंकुमागुरुसाराभ्यां पट्टवासैस् तथैव च ॥
तुलसीमञ्जरीभिश्च पूजयेत् पुरुषोत्तमम् ॥३५॥
ततश् चतुर्विधं भोज्यम् अनेकरससंयुतम् ॥
कुंकुमाक्षतताम्बूलदूर्वाश्रीफलसंयुतम् ॥३६॥
पात्रं सारार्तिकं कृत्वा कुर्याच्च तिलकं हरेः ॥
"प्रादुर्भूय यथा कृष्ण यशोदानन्दयोर् व्रजे ॥३७॥
गोपीनाञ्चैव गोपानां स्वीयत्वं कृतवान् विभो! ॥
तथैव श्रीविट्ठलेशकृपया कुरु मय्यपि" ॥३८॥
इति विज्ञाप्य दैन्येन नमस्कुर्याद् व्रजाधिपम् ॥
ततश्चतुर्विधं चान्नम् अनेकरससंयुतम् ॥३९॥
रोचकव्यञ्जनोपेतं रसालादधिदुग्धवत् ॥
विविधाऽपूपपक्वान्नं संयावादिसमायुतम् ॥४०॥
समर्पयेन् महाभोगं धूपदीपादिभिस् तथा ॥

अर्पयेच्च तथा स्वादून् पञ्चजीरकमोदकान्॥४१॥
षष्ठिकापूजनं कृत्वा ततः प्रेमपरिप्लुतः॥
ततश्चाचमनादीनि कृत्वा ताम्बूलम् अर्पयेत्॥४२॥
प्रेंखालंकरणं कृत्वा ततः संदोलयेत् प्रभुम्॥
नवनीतसिताद्राक्षाकदलीदाडिमादिकम्॥४३॥
नालिकेरं मोदकादीन् प्रेम्णा तत्र निवेदयेत्॥
वाद्यैश्च बहुभिर् दन्तैः काष्ठक्रीडनकैस् तथा॥४४॥
लालयेत् परया भक्त्या यशोदोत्संगसंगतम्॥
हरिद्राचूर्णतैलाद्भिर् गोरसैर् विविधैस् तथा॥४५॥
सिञ्चन् विलज्जो गीताद्यैः सुनृत्येद् वैष्णवैः सह॥
एवं रात्रिविधिं कृत्वा स्नात्वा स्नेहैकमानसः॥४६॥
भोजयित्वा सदानन्दं कुर्याद् आरार्तिकं तथा॥
स्वापयित्वा ततः कृष्णं वैष्णवान् भोजयेद् बहून्॥४७॥
भुञ्जीत तदनुज्ञातं प्रसादं प्रेमसंयुतः॥
एवं जन्मोत्सवं कुर्याद् यो भक्तो भगवत्परः॥४८॥
तस्य स्याद् गोपिकाधीशपादाब्जे सुदृढा रतिः॥

(श्रीस्वामिन्युत्सवः)

अथ श्रीगोकुलाधीशप्रियाजन्ममहोत्सवः॥४९॥
निरूप्यते यज्ज्ञानेन भक्तिर्भवति सुस्थिरा॥
मासि भाद्रपदे शुक्लाष्टमी राधाष्टमी तथा॥५०॥
कर्तव्यो ह्युत्सवस् तत्र मंगलैर् विविधैः शुभैः॥
प्रातः सेवां यथापूर्वं कृत्वा तत्रतु वैष्णवः॥५१॥
सुगन्धतैलकाश्मीरपाटीरैः स्नापयेद् विभुम्॥
काश्मीररञ्जितैर् वस्त्रैर् महार्घमणिभूषणैः॥५२॥
गुञ्जाभिर् गोपिकाधीशं भूषयेत् सप्रियं प्रभुम्॥

ततः सुविविधैर्भोज्यैः पक्वान्नैश्चातिकोमलैः ॥५३॥
दधिदुग्धरसालाद्यैः सूपान्तैः पायसादिभिः ॥
नवनीतसिताद्राक्षाकदलीदाडिमादिभिः ॥५४॥
भोजयेद् गोपिकाधीशं पञ्चजीरकमोदकैः ॥
ततः कर्पूरकस्तूरीयुतं ताम्बूलम् अर्पयेत् ॥५५॥
कुर्याद् आरार्तिकं मुद्रानालिकेरद्वयान्वितम् ॥
ताम्बूलद्वयसंयुक्तं कुंकुमाक्षतसंयुतम् ॥५६॥
"राधिकेश! कृपां कुरु"इत्युक्त्वा भूमौ नमेद् विभुम् ॥
एवं श्रीमत्स्वामिनीनां कुर्याद् जन्मोत्सवं शुभम् ॥५७॥
प्रयतो यो नरो भक्त्या पुष्टिभक्तिं लभेत सः ॥

(श्रीवामनोत्सवः)

अथ श्रीवामनजयन्त्युत्सवो विनिरूप्यते ॥५८॥
मासि भाद्रपदे शुक्ला द्वादशी श्रवणान्विता ॥
उपोष्या सोत्सवांगेन कार्यश्च विविधोत्सवः ॥५९॥
तथैव श्रीमदाचार्यैर्निबन्धे विनिरूपितम् ॥
'तथाच वामनजयन्त्युत्सवे'त्यादिना* स्फुटम् ॥६०॥
प्रातः सेवादिकं कृत्वा यथावद् गोकुलेश्वरम् ॥
कुंकुमेन सुगन्धेन तैलाद्यैः स्नापयेत् ततः ॥६१॥
पीताम्बरेण मणिमन्मेखलानूपुरांगगदैः ॥
मुकुटेनापि बार्हेण भूषयेत् पुरुषोत्तमम् ॥६२॥
पुनर् मध्याह्नसमये स्नापयेत् पञ्चकैर् विभुम् ॥
शालिग्रामेऽथवाऽऽदर्शे मूलमन्त्रविधानतः ॥६३॥
पीताम्बरं परिधाप्य पूजयेत् पुष्पकुंकुमैः ॥
दध्योदनं च पक्वान्नं मृदु स्वादु समर्पयेत् ॥६४॥

---

* त.दी.नि.प्र.२।२४५ (सम्पा.)

कृत्वा चारार्तिकं विष्णोर् दण्डवत् प्रणमेद् भुवि॥
मेखलाजिनदण्डादि धारयेत् कृष्णवामनम्॥६५॥
"नमोऽस्तु देहि मे भक्तिं शरणागतपालक!"॥
एवं स्तुत्वा विभुं कृष्णं निर्जलं धारयेद् व्रतम्॥६६॥
एकादशीं द्वादशीं च श्रवणर्क्षं स्पृशेद् यदि॥
तदा तद्दिने कर्तव्यो ह्युत्सवो विष्णुशृंखले॥६७॥
यदा ऋक्षं न लभ्येत वैष्णवं द्वादशीदिने॥
एकादशीदिने कार्यस् तदोत्सवविधिर् बुधैः॥६८॥
एकादशीं द्वादशीं च श्रवणर्क्षं स्पृशेद् यदि॥
मुहूर्तार्धमपि ग्राह्यः स योगो ह्याष्टयामिकः॥६९॥
योगे सतितु कर्तव्यो ह्युत्सवो विष्णुशृंखले॥
यदा ऋक्षं न लभ्येत वैष्णवं हि दिनद्वये॥७०॥
द्वादश्यामेव* कार्यस्तु तदोत्सवविधिर्बुधैः॥
एवं यो वामनजयन्त्युत्सवं कुरुते नरः॥७१॥
हृदये तस्य भगवदावेशो भवति ध्रुवम्॥

इति श्रीसंवत्सरोत्सवकल्पलतायां भाद्रपदोत्सवनिरूपणं
नाम प्रथमं दलम्

---

* एकादशीदिने कार्यः इत्यपि पाठभेदः खे, गे, ङे।

(श्रीगोपीनाथमहोत्सवः)

निरूप्यन्ते तु भक्तार्थम् अथाश्विनमहोत्सवाः ॥
आश्विनस्यासिते पक्षे द्वादश्यां करुणानिधेः ॥१॥
श्रीवल्लभप्रतिनिधिं गोपीनाथं स्वमात्मजम् ॥
प्रकटीकृतवान् स्वस्य स्वरूपज्ञापनाय हि ॥२॥
दयया निजभक्तेषु स्वभक्तानन्दसिद्धये ॥
अतस् तत्रोत्सवः कार्यः स्वमार्गस्थैस्तु सर्वथा ॥३॥
तत्राभ्यंगं कारयित्वा वस्त्रैः काश्मीररञ्जितैः ॥
भूषयित्वा भूषणैश्च भोज्यैश्च विविधैस् तथा ॥४॥
भोजयित्वा गोकुलेशं ताम्बूलादिकम् अर्पयेत् ॥
ततश्च तिलकं कृत्वा कुंकुमेन सुशोभनम् ॥५॥
कुर्याद् आरार्तिकं प्रेम्णा प्रणमेच्च्च मुहुर्मुहुः ॥
"श्रीवल्लभप्रतिनिधे! गोपीनाथ! तदंगज! ॥६॥
पाहि तद्भक्तिदानेन नमस्ते करुणानिधे!" ॥
एवं यः प्रयतो भक्त्या तद्भक्तीच्छुश्च सर्वथा ॥७॥
प्रत्यब्दम् उत्सवं कुर्यात् स्वाचार्याणाञ्च तुष्टये ॥
तस्य श्रीवल्लभाचार्याः प्रसीदन्ति न संशयः ॥८॥
स्वस्वरूपप्रदानेन तिष्ठन्ति च सदा हृदि ॥

(नवरात्रिविजयादशमी)

आश्विनस्य सिते पक्षे ह्यारभ्य प्रतिपद्दिनम् ॥९॥
नवम्यन्तं पर्वणीत्यापूजयेद् गोकुलाधिपम् ॥
प्रत्यहं भोजयेच्चापि मोदकापूपपायसैः ॥१०॥
आश्विनस्य सिते पक्षे दशमी श्रवणान्विता ॥
विजया सा तिथिर्यत्र विजयार्थं रघुप्रियः ॥११॥
प्रस्थितस् तत्र कर्तव्यो भक्तैर् जयमहोत्सवः ॥

सा सायंव्यापिनी ग्राह्या लोकस्मृत्यनुसारतः ॥१२॥
प्रातः सुगन्धकाश्मीरैर् अभ्यंगं कारयेद् विभोः ॥
ततश्च कञ्चुकोष्णीषादिभिः शुभ्रैर् महोत्सवे ॥१३॥
अलंकुर्वीत सप्रेम महार्घैर् भूषणैरपि ॥
सायंकाले ततः कुर्यात् तिलकं कुंकुमाक्षतैः ॥१४॥
समर्पयित्वा गोपीशस्योत्तमांगे यवांकुरान् ॥
ताम्बूलद्वितयेनापि युक्तमारार्तिकं तथा ॥१५॥
'यादृशोऽसी'ति मन्त्रेण प्रणमेद् दण्डवत् पुरः ॥
ततः समर्पयेच्चाग्रे कृत्वा च दशमोदकान् ॥१६॥
एवं यः कुरुते भक्त्या गोविन्दविजयोत्सवम् ॥
स वै श्रीगोकुलाधीशचरणे रतिम् आप्नुयात् ॥१७॥

(रासोत्सवः)

आश्विनस्यामले पक्षे पौर्णमास्यान्तु वैष्णवः ॥
तां लीलां मनसा ध्यायन् कुर्याद् रासमहोत्सवम् ॥१८॥
प्रातः सुगन्धतैलेन कुङ्कुमेन सुगन्धिना ॥
स्नापयित्वा गोपिकेशं भूषयेद् भूषणोत्तमैः ॥१९॥
केकिपिच्छोद्भवेनैव मुकुटेनातिचारुणा ॥
कंकणांगदकाञ्चीभिर् विविधैः कण्ठभूषणैः ॥२०॥
मुक्ताहारैस् तथा गुञ्जामणीनां हारविभ्रमैः ॥
ततश्च तिलकं कुर्यात् मत्स्यरेखाद्वयात्मकम् ॥२१॥
पाटीरेण ततः कुर्यात् तन्मध्ये मृगनाभिजम् ॥
बिन्दुं ततश्च तन्मध्ये मौक्तिकं बिन्दुमेव च ॥२२॥
ततो मकरिकापत्रं कृष्णाकृष्णकपोलयोः ॥
पीतांशुकैर् भूषयित्वा स्मरेद् गोपीकदम्बकम् ॥२३॥
ततश्च विविधैर् भोज्यैर् भोजयेद् गोपिकापतिम् ॥

मंगलैर् गीतवाद्यादिस्तोत्रैः सन्तोषयेत् प्रभुम्॥२४॥
कृत्वा चारार्तिकं प्रेम्णा प्रणमेद् गोकुलाधिपम्॥
एवं सेवेत यो भक्त्या स च दास्यम् अवाप्नुयात्॥२५॥

इति श्रीसंवत्सरोत्सवकल्पलतायाम् आश्विनोत्सवनिरूपणं
नाम द्वितीयं दलम्

(कार्तिकी कृष्णचतुर्दशी)

निरूप्यन्तेऽथ भक्तानां तुष्टये कार्तिकोत्सवाः ।।
कार्तिकस्यासिते पक्षे चतुर्दश्यां विधूदये ।।१।।
सीतालोष्ठसमायुक्त सकण्टकदलान्वित ! ।।
हर पापम् अपामार्गभ्राम्यमानः पुनः-पुनः ।।२।।
अपामार्गं भ्रामयित्वा ततो दीपपुरःसरम् ।।
कुर्यात् सुशोभनं भाले तिलकं कुंकुमाक्षतैः ।।३।।
समर्पयेत् तथाचाग्रे भक्त्या ताम्बूलकद्वयम् ।।
ततश्चाभ्यंगविधिना स्नापयेद् गोकुलाधिपम् ।।४।।

(दीपोत्सवः)

नवीनैः श्वेतवस्त्रैश्च भूषयेत् पुरुषोत्तमम् ।।
बुधैर् दीपोत्सवः कार्यः सायंव्यापिनि पर्वणि ।।५।।
प्रातर् अभ्यंगविधिना स्नापयेद् गोकुलेश्वरम् ।।
ततश्चानुत्तमैः शुभ्रैः कञ्चुकोष्णीषकादिभिः ।।६।।
विविधैर् भूषणैश् चापि भूषयेद् व्रजनायकम् ।।
ततो निवेदयेद् भोज्यम् अपूपांश्चापि दीपकाः ।।७।।
सायंकाले ततः कुर्याद् घृततैलसुपूरिकैः ।।
दीपकैश् चोज्ज्वलां रात्रिं गीतैर्वाद्यैर् मनोरमैः ।।८।।
ततश्च दाडिमद्राक्षाकदलीक्षुरसोद्भवैः ।।
रस्यैर् विकारैर् विविधैस् ताम्बूलैश्च सुशोभनैः ।।९।।
सुगन्धागरुकर्पूरकस्तूरीलेपनादिभिः ।।
माल्यैः सुगन्धपुष्पाणां शय्यागारन्तु मण्डयेत् ।।१०।।
मण्डयेत् शयनागारं पल्यंकास्तरणैः शुभैः।।
ततश्चारार्तिकं कृत्वा स्वापयेत् पुरुषोत्तमम् ।।
द्यूतार्थं तस्य निकटे स्थापयेद् रौप्यमुद्रिकाम् ।।११।।

(अन्नकूटोत्सवः)

द्वितीयेऽह्नि ततः कुर्याद् अन्नकूटमहोत्सवम्।।
स्नापयित्वा ततः प्रातर् भूषयेद् भूषणोत्तमैः ।।१२।।
शुभ्रैः स कञ्चुकोष्णीषैस् तथा पीतांशुकैरपि ।।
ततश्च नित्यवत् कृष्णं पूजयेद् भोजनादिभिः ।।१३।।
अन्यत्र गोमयेनैव कुर्याद् गोवर्धनं गिरिम्।।
भावसंशुद्धमनसा तत्रैवावाह्य पूजयेत्।।१४।।
ततो गोवर्धनगिरिं स्नापयेत् पयसा गवाम्।।
पुनः शीतजलैः शुद्धैः✽ सुगन्धैश् चन्दनादिभिः ।।१५।।
(आलिप्य स्नापयेद् उष्णवारिणा प्रेमसंयुतः) ।।
ततश्च तुलसीपत्रहरिद्राकुंकुमाक्षतैः ।।
हरिद्रारञ्जितैर् वस्त्रैर् धूर्धूपदीपादिभिस् तथा ।।१६।।
स्वादुभिर् विविधैश् चान्नैर् मृदुभिर् मोदकादिभिः ।।
ताम्बूलारार्तिकैश्चापि पूजयेन्मंगलस्वनैः ।।१७।।
("गोवर्धन! महाबाहो! श्रीकृष्णप्रियरूपधृक्!" ।।
पूजितो नन्दवन्मेऽन्यसम्बन्धं विनिवारय।।१८।।
मन्त्रेणानेन संपूज्य प्रणमेद् दण्डवत् ततः ।।
वस्त्रमाल्यसुपक्वान्नकुंकुमाक्षतचन्दनैः) ।।१९।।
पूजयित्वा च गोवत्सान् गोपालांश्च विशेषतः ।।
ततश्च पूजयेद् विप्रान् कुर्याद् गोक्रीडनं तथा ।।२०।।
ततश्चापूपसंयावशष्कुलैर् मोदकादिभिः ।।
विविधैर् व्यञ्जनैश्चापि सूपान्तैः पायसादिभिः ।।२१।।
दधिदुग्धैर् बहुविधैश् चटकैः पर्प्पटैस् तथा ।।
ओदनैश्च तथा कूटं कृत्वा गोवर्धनोपमम्।।२२।।

✽- 'पुनः शंखोदकेनापि' इत्यपि पाठः 'के'-'घे'-'चे'

धूपदीपादिकं कृत्वा प्रोक्ष्य शंखोदकैरपि ॥
कृत्वाऽन्नकूटं तुलसीपत्रं कृष्णे निवेदयेत् ॥२३॥
स्वसेव्यरूपे तद्रूपम् आविर्भूतं विभावयेत् ॥
स्वाचार्यप्रोक्तरीत्यैव मन्त्रोच्चारेण चार्पयेत् ॥२४॥
"गिरिछत्रेण दृक्पातचामरैः स्नेहवारिभिः ॥
केवलं स्वीयतां राज्येऽभ्यसिञ्चद् व्रजम् ईश्वरः" ॥२५॥
पद्येनानेन विज्ञाप्य भावयेत् स्वकृतार्थताम् ॥
श्रीविठ्ठलप्राणनाथं गोत्रनाथं हृदि स्मरन् ॥
गीतैः सुमंगलैर् भोगसमये तोषयेत् प्रभुम् ॥२६॥
ततश्चाचमनं दत्वा ताम्बूलं विनिवेदयेत् ॥
कृत्वा चारार्तिकं प्रेम्णा दण्डवत् प्रणमेत् प्रभुम् ॥२७॥
'यादृशोऽसी'ति मन्त्रेण चान्नकूटं परिक्रमेत् ॥
य एवमुत्सवं कुर्यात् तस्य कृष्णः प्रसीदति ॥२८॥

(यमद्वितीया)

कार्तिकस्य सिते* पक्षे द्वितीयायाञ्च वैष्णवः ॥
प्रातर् अभ्यंगविधिना स्नापयेद् गोकुलेश्वरम् ॥२९॥
शुभ्रोष्णीषक्षौमरक्तकञ्चुकोत्तमभूषणैः ॥
भूषयित्वा सतिलकं कुर्यान् नीराजनं विभोः ॥३०॥
शुभ्रोष्णीषाद्भुतारक्तक्षौमकञ्चुकभूषणैः ॥
भूषयित्वा प्रत्यहवत् सेवयेद् गोकुलेश्वरम् ॥३१॥
श्रीराजभोगसमये कुर्यान् नीराजनं विभोः ॥
तिलकं कुंकुमेनापि ताम्बूलद्वयम् अर्पयेत् ॥३२॥
दध्योदनञ्च कृशिरामोदकान्नर्पयेत् ततः ॥
एवं दीपोत्सवदिनत्रयं कार्यं हि वैष्णवैः ॥३३॥

---

*'कार्तिकस्यामले' इति पाठान्तरम्.

(प्रबोधिनी)

कार्तिकस्य सिते* पक्षे ह्येकादश्यां महोत्सवः ॥
विधिवद् वैष्णवैर् भक्त्या कार्यश्चोत्थापनात्मकः ॥३४॥
प्रातर् अभ्यंगविधिना स्नापयित्वा व्रजाधिपम् ॥
नवैः सितोष्णीषतूलकञ्चुकादिभिरुत्तमैः ॥३५॥
रक्तैर् अनुत्तमैः क्षोमैर् भूषयेद् भक्तिमान् नरः ॥
ततश्च रात्रिसमये कुर्याद् उत्थापनोत्सवम् ॥३६॥
शंखघण्टामृदंगादिवाद्यैर्गीतैः सुशोभनैः ॥
हरिद्रामण्डलाद्यैश्च कुंकुमैश् चित्रयेद् भुवम् ॥३७॥
कृत्वेक्षुमण्डपं तत्र न्यसेत् सिंहासनोत्तमम् ॥
मण्डपस्य चतुर्दिक्षु कुर्याद् दीपान् घृताभृतान् ॥३८॥
दक्षिणाभिमुखं कृष्णं तत्र संस्थापयेत् ततः ॥
शंखघण्टामृदंगादिवाद्यैर् गीतैः सुमंगलैः ॥३९॥
प्राणान् आयम्य संकल्प्य कुर्याद् उत्थापनं हरेः ॥
"उत्तिष्ठोत्तिष्ठ गोविन्द त्यज निद्रां जगत्पते ॥४०॥
त्वयि चोत्थीयमानेन चोत्थितं भुवनत्रयम् ॥
त्वयि सुप्ते जगत् सुप्तम् उत्थिते तूत्थितं जगत् ॥४१॥
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ गोविन्द! उत्तिष्ठ गरुडध्वज! ॥
उत्तिष्ठ कमलाकान्त! त्रैलोक्यमंगलं कुरु" ॥४२॥
एनं मन्त्रं त्रिर् उच्चार्य त्रिवारं गोपिकेश्वरम् ॥
ससिंहासनम् उत्थाप्य शनैः संस्थापयेत् पुनः ॥४३॥
ततश्च पञ्चकैः कृष्णम् अभ्यंगविधिना तथा ॥
तदंगत्वेन संकल्प्य पञ्चकैः कुंकुमेन च ॥
स्नापयित्वा पूजयेच्च पुष्पमाल्यैः सुगन्धिभिः ॥४४॥

---

*'कार्तिकस्यामले' इति पाठान्तरम्.

पीताम्बरं परिधाप्य तथा सत्तूलिकादिकम्॥
ततश्च स्थापयेद् अग्रे हसन्तीं चाग्निसम्भृताम्॥४५॥
धूपदीपादिकं कृत्वा नैवेद्यं कल्पयेन् मृदु॥
अर्पयेच्च नवीनेक्षुकन्दमूलफलादिकम्॥४६॥
ततश्चाचमनं दत्वा ताम्बूलादि निवेदयेत्॥
नीराजयेच्च प्रणमेत् प्रदक्षिणपुरःसरम्॥४७॥
भगवन्तं यथास्थानं प्रेम्णा संस्थापयेत् पुनः॥
ततश्च जागरं कुर्याद् गुणगानादिभिर् हरेः॥
दधिरोचकपक्वान्नं कृत्वा पात्रचतुष्टये॥४८॥
धूपदीपैः पात्रम् एकं प्रतियामं समर्पयेत्॥
प्रतिभोगावसाने च कुर्याद् आरार्तिकं तथा॥४९॥
भद्रातु स्याद् यदा रात्रौ तदा चोत्थापयेद् दिवा॥
भोजयेच्च ततः प्रातर् वैष्णवान् सुद्विजोत्तमान्॥५०॥
य एवं भक्तिमान् कुर्यात् कृष्णस्योत्थापनोत्सवम्॥
लभते सुदृढां भक्तिं हरेः प्रेमात्मिकां स वै॥५१॥

इति श्रीसंवत्सरोत्सवकल्पलतायां कार्तिकोत्सवनिरूपणं
नाम तृतीयं दलम्

अथ मार्गशिरे मासि प्रमेयफलबोधके॥
प्रमेयरससिद्ध्यर्थं पूजयेद् गोकुलाधिपम्॥१॥
पट्टाम्बरैस्तु विविधैर् मृदुभिस् तूलकञ्चुकैः॥
भूषयेद् भूषणैर् दिव्यैस् तथा मृगमदादिभिः॥२॥
मधुरैर् दधिदुग्धेक्षुरसपिष्टविनिर्मितैः॥
भोज्यैर् अपूपसंयावशष्कुलीमोदकादिभिः॥३॥
पर्पटैर् व्यञ्जनैश् चापि करीराम्रादिरोचकैः॥
क्वथिकाकृशिरापीतभक्तपायससूपकैः॥४॥
गोधूममाषचणकपिष्टामिक्षाकृतैः शुभैः॥
विविधैर् व्यञ्जनैश् चापि तथाऽऽचारादिरोचकैः॥५॥
भोज्यैर् बहुविधैश् चान्यैर् भोजयेद् अन्वहं प्रभुम्॥

(श्रीबलदेवप्रभूत्सवः)

मार्गशीर्षे पौर्णमास्यां श्रीकृष्णावेशधारिणः॥
लीलार्थं जन्म रोहिण्यां शयनस्य विदुर् हरेः॥६॥
तत्रोत्सवो हि कर्तव्यो भक्तैः सावेशिनो हरेः॥
प्रातर् अभ्यंगविधिना स्नापयित्वा महाप्रभुम्॥७॥
भूषयेद् जलदाभैस्तु क्षोमैः सत्कञ्चुकैर् नवैः॥
काश्मीररञ्जितोष्णीषप्रावारपरिधानकैः॥८॥
भोजयेद् विविधैर् भोज्यैः षड्रसैः पायसादिभिः॥
ततश्चाचमनं दत्वा मुखवासाद्यम् अर्पयेत्॥९॥
ततश्च तिलकं कृत्वा मंगलं कुंकुमाक्षतैः॥
ताम्बूलयुग्मम् अर्प्याऽथ कुर्यान् नीराजनं तथा॥१०॥
“श्रीकृष्णाविष्ट! हे राम! प्रसीद पुरुषोत्तम!॥
रमय श्रीगोकुलेशं सङ्कर्षण! नमोऽस्तु ते”॥११॥
एवं मार्गशिरे कुर्यात् सेवां प्रेमाप्तये प्रभोः॥

यस्तम् आत्मप्रदो दद्यात् स्वभक्तिं नन्दनन्दनः ॥१२॥

इति श्रीसंवत्सरोत्सवकल्पलतायां मार्गशिरोत्सवनिरूपणं
नाम चतुर्थं दलम्

(श्रीविठ्ठलनाथोत्सवः)

निरूप्यतेऽथ पौषस्य महोत्सवविधिर्विभोः ॥
महोत्सवस्वरूपञ्च भक्तानां भक्तिवृद्धये ॥१॥
पौषमासस्याद्यपक्षे नवम्यां पुरुषोत्तमः ॥
श्रीविठ्ठलेशरूपेण प्रादुरासीत् कृपानिधिः ॥२॥
भक्तिमार्गप्रवृद्ध्यर्थं दैवोद्धारप्रयत्नवान् ॥
विद्धां जन्माष्टमीं त्यक्त्वा व्यासाद्यैर् अतएव हि ॥३॥
समाधावनुभूयैव निर्णीतं नवमीव्रतम् ॥
अतस्तद्भक्तिसिद्ध्यर्थं कार्यस् तत्रोत्सवो बुधैः ॥४॥
शंखदुन्दुभिनिर्घोषैर् गीतैर् वाद्यैः सुमंगलैः ॥
मण्डयेन् मन्दिरं शस्तैर् वितानास्तरणैरपि ॥५॥
सिक्त्वा गन्धोदकैश् चापि तोरणैः कदलीदलैः ॥
पूगीफलैर् नालिकेरैः पताकैर् विविधैस् तथा ॥६॥
प्रातर् उत्थाय च ततश्चाभ्यंगविधिना विभुम् ॥
स्नापयित्वा ततः कृष्णं भूषयेद् भूषणोत्तमैः ॥७॥
कञ्चुकेन च पीतेन क्षौमेनात्यद्भुतेन च ॥
तूलकञ्चुकमुख्येन पीतोष्णीषोत्तमेन च ॥८॥
नवकाश्मीररक्तेन प्रावरेणामलेन च ॥
काश्मीररक्तप्रावारपरिधानादिभिस् तथा ॥९॥
काश्मीराऽगरुसारादिमाल्यैश् च पटवासकैः ॥
सुगन्धैर् विविधैश् चान्यैः प्रेम्णा कृष्णं समर्चयेत् ॥१०॥
ततश्चणकगोधूमपिष्टेक्षुरसकल्पितान् ॥
मोदकादीन् शिखरिणीं घृतं* दध्यमृतोपमम् ॥११॥
ससितं सुशृतं क्षीरं नवमृद्भाजने स्थितम् ॥
नवनीतं च ससितं कदलीद्राक्षदाडिमान् ॥१२॥

---

*- घनं इत्यपि।

तथाच विविधान् पाकान् सूपान्तान् पायसादिकान्॥
निम्बूजम्बीरचूतार्द्रान् रोचकव्यञ्जनादिकान्॥१३॥
समर्पयेद् भक्तियुक्तः श्रीकृष्णे विट्ठलेश्वरे॥
ताम्बूलाद्युपचारांश्च दत्वाऽऽचमनम् अर्पयेत्॥१४॥
ततश्चारार्तिकं कुर्याद् भक्त्या तं प्रणमेत् प्रभुम्॥
रोचनातिलकं कृत्वा कुर्याद् आरार्तिकं तथा॥१५॥
समर्पयित्वा ताम्बूलद्वयं भक्त्या नमेद् विभुम्॥
"श्रीविट्ठल! कृपासिन्धो! श्रीमद्वल्लभनन्दन!॥१६॥
स्वकीयं मां विजानीहि नमस्ते भक्तवत्सल!"॥
एवं सप्रेम यः कुर्यात् श्रीविट्ठलमहोत्सवम्॥१७॥
तस्य श्रीगोकुलाधीशः शीघ्रं स प्रविशेद् हृदि॥

इति श्रीसंवत्सरोत्सवकल्पलतायां पौषोत्सवनिरूपणं
नाम पञ्चमं फलम्

(मकरसंक्रान्ति)

माघमासोत्सवविधिर्लिख्यतेऽथ विवेकतः ॥
माघेऽथवा पौषमासे यदा संक्रमते रविः ॥१॥
मकरे हि दिने तस्मिन् अभ्यंगं कारयेद् विभोः ॥
समर्पयेच्च कुशिरान् सुस्वादु तिलमोदकान् ॥२॥
पर्वाख्यम् एतत्तु दिनं कृत्वैवं लभते हरिम् ॥

(वसन्तपञ्चमी)

माघे शुद्धा पञ्चमी स्याद् उदयव्यापिनी यदि ॥३॥
तदोत्सवो वसन्ताख्यः कार्यो गीतादिभिर् महान् ॥
कृष्णम् अभ्यंगविधिना स्नापयित्वा च भूषयेत् ॥४॥
सितैस्तु कञ्चुकोष्णीषकटिबन्धादिभिर् नवैः ॥
ततश्च राजभोगान्तं नित्यवत् सेवयेत् प्रभुम् ॥५॥
ततोत्सवविधिं कुर्याद् यथावत् सुसमाहितः ॥
पाटीररजकाश्मीररसागुरुकसारकान् ॥६॥
पटवासादिकान् पात्रे कृष्णाग्रे परिस्थाप्य च ॥
स्थित्वा संकल्प्य विधिवत् तद्रूपम् अधिवासयेत् ॥७॥
सुगन्धपुष्पचूतादिमञ्जरीपल्लवादिभिः ॥
विविधैः पट्टवासैश्च कुंकुमागरुसारकैः ॥८॥
कोटिकन्दर्पलावण्यम् अर्चयेद् गोकुलाधिपम् ॥
ततश्च स्वादु पक्वान्नं यथाशक्ति निवेदयेत् ॥९॥
ताम्बूलम् अर्पयित्वा च कृत्वा ह्यारार्तिकं नमेत् ॥
ततश्चारभ्य काश्मीरपट्टवासादिभिर् विभुम् ॥१०॥
सुवाद्यैर् नृत्यगीताद्यैर् आदोलोत्सवम् अर्चयेत् ॥

इति श्रीसंवत्सरोत्सवकल्पलतायां माघोत्सवनिरूपणं
नाम षष्ठं दलम्

(श्रीगोवर्धनधरप्रादुर्भावोत्सवः)

अथोत्सवाः निरूप्यन्ते मासि फाल्गुनसञ्ज्ञके॥
फाल्गुन्यसितसप्तम्यां श्रीमद्गोवर्धनाधिपः॥१॥
प्रेमातिषंगबोधार्थं प्रेमातिशयवत्सलः॥
व्याजं लौकिकम् आश्रित्य श्रीविठ्ठलगृहेऽगमत्॥२॥
उत्सवस्तु महान् आसीत् स न शक्योऽस्ति वर्णने॥
तदागमनसञ्जातः श्रीविठ्ठलकुले तदा॥३॥
तदीयैस्तु तदाप्त्यर्थं कर्तव्यश् चोत्सवो महान्॥
वस्त्रालंकारभूषादिभोजनैर् विविधैरपि॥४॥
तत्राभ्यंगं कारयित्वा कृष्णं विविधभूषणैः॥
काश्मीररञ्जितैर् वस्त्रैः पीतैः क्षोमैश् च भूषयेत्॥५॥
चतुर्विधैर् भोजनैश् च भोजयित्वा व्रजेश्वरम्॥
सुगन्धपुष्पताम्बूलारार्तिकादिभिर् अर्चयेत्॥६॥
गन्धपुष्पैश् च ताम्बूलैर् आरार्तिकसमन्वितैः॥
रोमाञ्चिततनुर् भूत्वा प्रणमेद् अचलाधिपम्॥
य एवम् उत्सवं कुर्याद् तस्य गोवर्धनाधिपः॥७॥
श्रीविठ्ठलेशकृपया सत्वरं निवसेद् हृदि॥

(फाल्गुनपूर्णिमा)

फाल्गुन्यां पौर्णमास्यान्तु स्नापयेद् व्रजनायकम्॥८॥
अभ्यंगविधिनाऽपूपान् अर्पयेत् प्रेमपूरितः॥

(दोलोत्सवः)

तदैवान्यदिने वापि ह्युत्तराफाल्गुनी भवेत्॥९॥
तदा दोलोत्सवः कार्यो विधिपूर्वन्तु वैष्णवैः॥
तिथि-नक्षत्रयोर् मध्ये नक्षत्रन्तु बलाधिकम्॥१०॥

तस्माद् ऋक्षं विचार्यैव कार्यो दोलात्मकोत्सवः ॥
तथा स्कान्दोत्कले खण्डे नृपं प्रत्युक्तवान् हरिः ॥११॥
तथाच —
"फाल्गुन्यां क्रीडनं कुर्याद् दोलायां मम भूपते"[१] ॥
पूर्वं दोलां समारोप्य मण्डयेत् पुष्पपल्लवैः ॥१२॥
आवाह्य दोलां नैवेद्यधूपदीपैश् च पूजयेत् ॥
पुनर् दोलोत्सवं कुर्याद् उत्तराफाल्गुनीदिने ॥१३॥
नैवेद्यधूपदीपाद्यैर् दोलां सम्पूजयेत् ततः ॥
पीतांशुकसीतोष्णीषकञ्चुकादिविभूषितम् ॥१४॥
दोलाम् आरोपयेत् कृष्णं शंखदुन्दुभिनिस्वनैः ॥
काश्मीरपंकागरुसत्सारादिपटवासकान् ॥१५॥
स्थापयित्वाऽग्रतो कुर्यात् ततस् तदभिमन्त्रणम् ॥
ततस् तैः पूजयेत् कृष्णं माल्यैश् चापि सुगन्धिभिः ॥१६॥
ततो विविधपक्वान्नं दध्यादि विनिवेदयेत् ॥
ताम्बूलम् अर्पयित्वा च कुर्याद् आरार्तिकं ततः ॥१७॥
कर्तव्यश् चोत्तमैर् गीतैर् एवं दोलोत्सवस् त्रिधा ॥
कृत्वा प्रदक्षिणञ् चाग्रे प्रणमेद् दण्डवद् भुवि ॥१८॥
ततो गोपीशमुत्तार्य दोलाम् उद्वासयेत् तदा ॥
भक्तिप्राप्तीच्छुभिः कार्यश्चैवं दोलामहोत्सवः ॥१९॥

इति श्रीसंवत्सरोत्सवकल्पलतायां फाल्गुनोत्सवनिरूपणं
नाम सप्तमं दलम्

१. स्कन्दपुरा. २।२।२९।४७

(श्रीरामनवमी)

अथ चैत्रोत्सवविधिं विविच्य विनिरूप्यते॥
चैत्रे मासितु शुद्धायां नवम्यां रघुनायकः ॥१॥
प्रादुरासीत् तत्र कार्यो वैष्णवैर् उत्सवो महान्॥
तदंगत्वाद् व्रतस्यापि सोपोष्या सर्वथा बुधैः ॥२॥
नोपोष्या चाष्टमीविद्धा प्रातः स्याद् दशमी यदि॥
तदभावे तु पूर्वैव* पारणादिविधानतः ॥३॥
अगस्त्यसंहितायाञ्च वचनानि तथैव हि॥
लिख्यन्ते तानि लभ्यानि प्रमाणत्वेन चात्र वै॥४॥
तथाच —
"चैत्रे मासे नवम्यान्तु जातो रामः स्वयं हरिः॥
पुनर्वस्वर्क्षसंयुक्ता सा तिथिः सर्वकामदा"[१] ॥५॥
सैव मध्याह्नयोगेन महापुण्यतमा भवेत्॥
मेषे पूषणि सम्प्राप्ते लग्ने कर्कटकाह्वये॥६॥
आविरासीत् सकलया कौशल्यायां परः पुमान्॥
नवमी चाष्टमीविद्धा त्याज्या विष्णुपरायणैः ॥७॥
उपोषणं नवम्यां वै दशम्यामेव च पारणम्॥
दशम्यां पारणायाश्च नित्यत्वात् नवमीक्षये॥८॥
विद्धाऽपि नवमी ग्राह्या वैष्णवैर् अप्यसंशयम् इति॥
ततः प्रातः समुत्थाय स्नापयेत् पञ्चकैर् विभुम्॥९॥
ततश्चाभ्यंगविधिना भूषयेच्च तथोत्तमैः॥
महार्हैर् भूषणैर् दिव्यैर् वस्त्रैः कुंकुमरञ्जितैः ॥१०॥
ततो मध्याह्नसमये शंखदुन्दुभिनिस्वनैः॥
विविधैर् गीतवाद्यैश्च स्नापयेत् पञ्चकैः पुनः ॥११॥

---

*- 'विपेन्द्र' पाठः खे-गे-ङे।

१. अग.संहि.१८।१.

पीताम्बरेण काश्मीरमाल्याद्यैः पूजयेत् ततः ॥
ततश्च विविधं भोज्यं पक्वान्नादि निवेदयेत् ॥१२॥
ताम्बूलम् अर्पयित्वा च कुर्याद् आरार्तिकं ततः ॥
ताम्बूलद्वयसंयुक्तं तिलकं कुंकुमाक्षतैः ॥१३॥
प्रणमेद् दण्डवत् कृष्णं यदीच्छेद् भक्तिम् उत्तमाम् ॥

इति श्रीसंवत्सरोत्सवकल्पलतायां चैत्रोत्सवनिरूपणं
नाम अष्टमं दलम्

(श्रीमदाचार्यचरणोत्सवः)

निरूप्यन्ते च भक्तानां तुष्टये माधवोत्सवाः ॥
माधवेऽप्यथवा चैत्रे मेषं संक्रमिते रवौ ॥१॥
तद्दिने चार्पयेत् सक्तून् कुर्याद् अभ्यंगकं तथा ॥
एकादश्याम् आद्यपक्षे माधवे पुरुषोत्तमः ॥२॥
श्रीभागवतगूढार्थप्रकाशानन्दसिद्धये ॥
पुष्टिभक्तिप्रचारेण दैवोद्धारप्रयत्नवान् ॥३॥
आविर्भावितवान् स्वास्यम् आनन्दमयम् उत्तमम् ॥
शुद्धाधिदैविकानन्दवह्निरूपम् अनुत्तमम् ॥४॥
आविर्भावितवान् स्वास्यं पुष्टिमार्गप्रवृद्धये ॥
पुष्टिमार्गप्रवृत्तैस्तु भक्तैस् तद्भक्तिसिद्धये ॥५॥
महोत्सवस् तत्र कार्यो विविधैर् मंगलादिभिः ॥
प्रातर् अभ्यंगविधिना स्नापयेद् व्रजवल्लभम् ॥६॥
काश्मीररञ्जितैर्वस्त्रैर्भूषणैश्च महाधनैः ॥
भूषयित्वा च काश्मीरपुष्पाद्यैश् चार्चयेत् प्रभुम् ॥७॥
बहुव्यञ्जनसूपान्नपायसापूपमोदकैः ॥
घृतपक्वैर् अनेकैश्च रसालादधिसन्धितैः ॥८॥
शृतदुग्धादिभिर् भोज्यैर् भोजयेच्च सशर्करैः ॥
एवं दुग्धादिभिर्भोगैर्विविधैर्भोजयेत् प्रभुम् ॥९॥
ताम्बूलम् अर्पयित्वा च भेरीदुन्दुभिनिःस्वनैः ॥
विविधैर् गीतवाद्यैश्च कुर्याद् आरार्तिकं शुभम् ॥१०॥
दण्डवत् प्रणमेत् प्रेम्णा कृष्णं श्रीवल्लभात्मकम् ॥
रोचनातिलकञ्चापि ताम्बूलद्वयसंयुतम् ॥११॥
श्रीकृष्णस्यानन्दरूप! महाकारुणिक! प्रभो! ॥
पाहि मां दुःखसंसारात् प्रणमामि मुहुर्मुहुः ॥१२॥
एवं भक्तोत्सवं कृत्वा पुष्टिभक्तिम् अवाप्नुयात् ॥

(अथ अक्षयतृतीया)

शुक्लपक्षे तु वैशाखे तृतीयाऽक्षयसंज्ञिका ॥
भक्तैस्तु तत्र कर्तव्यो विधिना चन्दनोत्सवः ॥१३॥
पूर्वं हि विधिना तत्र प्रातरभ्यंगकं हरेः ॥
कारयित्वा ततः श्वेतप्रावारपरिधानकैः ॥१४॥
भूषयेञ्च तथानर्घ्यव्रजमुक्ताविभूषणैः ॥
कुंकुमागरुकर्पूरकस्तूरीभिः सुघर्षितम् ॥१५॥
चन्दनं स्थापयेत् पात्रे विधिना चाभिमन्त्रयेत् ॥
चन्दनेनार्चयेद् भक्त्या पादाद्यवयवान् हरेः ॥१६॥
शीतलैः पुष्पमाल्यैश्च वीजयेद् व्यजनैस्तथा ॥
तथा चोत्कलखण्डेतु प्रोक्तवान् भूपतिं हरिः ॥१७॥
तथा च,
वैशाखस्य सिते पक्षे तृतीयाऽक्षयसंज्ञिका ॥
तत्र मां लेपयेद् गन्धलेपनैः अतिशोभनैः ॥१८॥
दध्योदनं पानकञ्च नवमृद् भाजने स्थितम् ॥
ताम्बूलम् अर्पयेद् भक्त्या कुर्याद् आरार्तिकं तथा ॥१९॥
प्रणमेदण्डवद् भक्त्या यः कुर्याद् एवम् उत्सवम् ॥
प्रयतो लभते पुष्टिं भक्तिं स परमोत्तमाम् ॥२०॥

(श्रीनृसिंहजयन्ती)

वैशाखस्य सिते पक्षे श्रीनृसिंहचतुर्दशी ॥२१॥
जयन्ती सा पापहरा कार्यस्तत्र व्रतोत्सवः ॥
पूर्वविद्धातु सा भक्तैर् नैवोपोष्या कथञ्चन ॥२२॥
केवलन्तु प्रकर्तव्यं मद्दिनं फलकांक्षिभिः ॥
तथाचोक्तं बृहन्नारसिंहे श्रीसिंहरूपिणा ॥२३॥
मुनिभिर् वचनं प्रोक्तं वैष्णवोद्देशतस् तथा ॥

वैष्णवैस्तु न कर्तव्या स्मरविद्धा चतुर्दशी ॥२४॥
प्रातर् अभ्यंगविधिना स्नापयित्वा तथोत्तमैः ॥
काश्मीररञ्जितैर् वस्त्रैर् भूषयेत् पुरुषोत्तमम् ॥२५॥
ततश्च नित्यवत् कुर्याद् आसायं सेवनं हरेः ॥
सायंकाले ततः कुर्यात् स्नपनं पञ्चकैर् विभोः ॥२६॥
प्राणान् आयम्य संकल्प्य विधिना ह्युत्सवांगतः ॥
पीताम्बरेण मालाभिश् चन्दनेनार्चयेत् प्रभुम् ॥
दध्योदनं पानकञ्च कर्कटीशर्करादिकम् ॥२७॥
समर्पयित्वा ताम्बूलम् अर्पयेत् प्रेमसंयुतः ॥
ततश्चारार्तिकं कुर्यात् गीतवादित्रमंगलैः ॥२८॥
"यादृशोऽसी..."ति पद्येन प्रणमेत् पुरुषोत्तमम् ॥
एवं कृत्वा श्रीनृसिंहजयन्तीव्रतम् उत्सवम् ॥२९॥
परमां भक्तिम् आप्नोति मुच्यते चातिपातकैः ॥

इति श्रीसंवत्सरोत्सवकल्पलतायां वैशाखोत्सवनिरूपणं
नाम नवमं दलम्

(ज्येष्ठाभिषेकः)

उत्सवो ज्येष्ठमासस्य विधिनाऽथ निरूप्यते॥
ज्येष्ठे मासि सिते पक्षे ऋक्षे चैवेन्द्रदैवते॥१॥
कुर्याद् भक्तः पौर्णमास्यां स्नानयात्रोत्सवं हरेः॥
पौर्णमास्यां सदा भक्तो भक्त्या संस्थापयेत् प्रभुम्॥
ब्रह्मणा च तथा प्रोक्तं संपृष्टेन मुनीश्वरैः॥२॥
ज्येष्ठीप्रशंसकाध्याये पुराणे 'ब्रह्म'सञ्ज्ञके॥
तथाच मासे ज्येष्ठे च नक्षत्रे चैन्द्रदैवते॥३॥
तिथिनक्षत्रसंयोगाभावे ऋक्षं यदा भवेत्॥
बलिष्ठत्वात्तु ऋक्षस्य तदा कार्योत्सवो बुधैः॥४॥
पौर्णमास्यां तदा स्नानं सर्वकालं हरेर् द्विजाः॥
प्रथमेऽह्नितु सायाह्ने जलम् आनीय भक्तितः॥५॥
स्थापयेत् कलशे शुद्धे मध्ये पुष्पाणि निक्षिपेत्॥
चन्दनं तुलसीपत्रं क्षिप्त्वा वार्यभिमन्त्रयेत्॥६॥
कर्पूरागरुकस्तूरीकुंकुमादिसुगन्धकान्॥
धूपदीपादिनैवेद्यैः कुर्याच्चैवाधिवासनम्॥७॥
ततश्च कारयेत् प्रातः स्नानं शंखोदकेन हि॥
"स्वर्णघर्मम्"इति श्रुत्या तथा पुरुषसूक्ततः॥८॥
घण्टाशंखमृदंगाद्यैर् विविधैर् मंगलस्वनैः॥
ततश्च विविधैः शुभ्रैर् वस्त्रैः कृष्णं विभूषयेत्॥९॥
प्रसादगन्धताम्बूलदक्षिणाभिश्च वैष्णवान्॥
सूक्तानुपाठकान् विप्रान् अर्चयेच्च समागतान्॥१०॥
प्रियालमोदकैर् मुद्गैः पानकेनोत्तमेन च॥
कर्कटैः कदलीचूतफलजम्बूफलादिभिः॥११॥
भोजयेद् गोपिकानाथं ताम्बूलादि तथार्पयेत्॥
एवं यः पूजयेद् भक्त्या तस्य कृष्णः प्रसीदति॥१२॥

इति श्रीसंवत्सरोत्सवकल्पलतायां ज्येष्ठोत्सवनिरूपणं
नाम दशमं दलम्

(रथयात्रा)

अथाषाढस्य रूप्यन्ते विस्तरेण महोत्सवाः ॥
आषाढशुक्लपक्षेतु पुष्यो यदि भवेत् तदा ॥१॥
कार्यो रथोत्सवः प्रेम्णा श्रीकृष्णप्रीतये बुधैः ॥
तिथिनक्षत्रयोगानां भावे ऋक्षं यदा भवेत् ॥२॥
बलिष्ठत्वात्तु ऋक्षस्य तदा कार्योत्सवो बुधैः ॥
तथाचोक्तं जगन्नाथप्रभुणोद्दिश्य भूपतिम् ॥३॥
स्कान्दस्योत्कलखण्डस्याध्याये चैकोनत्रिंशके ॥
"आषाढस्य सिते पक्षे द्वितीया पुष्यसंयुता ॥४॥
तस्यां रथे समारोप्य रामञ्च/रामं मां भद्रया सह"[१] इति ॥
प्रातर् अभ्यंगविधिना स्नापयित्वा व्रजेश्वरम् ॥५॥
सितैश्च कञ्चुकोष्णीषप्रावारकटिबन्धनैः ॥
महार्घरत्ननीलेन्द्रमणिवज्रादिभूषितैः ॥६॥
भूषयेद् भूषणैर् भक्त्या रथम् अश्वांश्च भूषयेत् ॥
विविधैर् भूषणैर् वस्त्रैः सम्पूज्यावाहयेत् ततः ॥७॥
नैवेद्यं धूपदीपादिगन्धपुष्पविधानतः ॥
स्थापयित्वा च विधिवद् दक्षिणाभिमुखं रथम् ॥
संस्थापयेद् रथे कृष्णं शंखाद्यैर् मंगलस्वनैः ॥८॥
ततो विविधपक्वान्नं कर्कटीबीजमोदकान् ॥
मुद्गांकुरान् तथाचाम्रान् पानकञ्च सिताकृतम् ॥९॥
कर्कटीकदलीद्राक्षाफलान्यत्युत्तमानि च ॥
त्रिधा समर्पयेत् सर्वं ताम्बूलञ्च त्रिधाऽर्पयेत् ॥१०॥
धूपदीपादिविधिना त्रिधा सर्वं समर्पयेत् ॥
ताम्बूलम् अर्पयित्वा च कुर्याद् आरार्तिकं विभोः ॥११॥
कृत्वा चारार्तिकं भक्त्या रथस्थं प्रणमेद् विभुम् ॥

---

१. स्कन्दपुरा.२।२।२९।३३.

"यादृशोऽसि..."इति पद्येन रथस्थं प्रणमेद् हरिम्॥
त्रिःपरिक्रम्य गोपीशं रथम् उद्वासयेत् ततः॥१२॥
रथयात्रां हि यः कुर्याद् यश्च पश्येद् रथस्थितम्॥
दक्षिणाभिमुखं देवं स वै कृष्णम् अवाप्नुयात्॥१३॥

(आषाढी पूर्णिमा)

आषाढी पौर्णमासी हि 'पर्वम्' इत्युच्यते बुधैः॥
प्रातःकाले तु तस्मिन् वै कुर्याद् अभ्यंगकं हरेः॥१४॥
प्रियालमोदकान् स्वादून् अर्पयेच्च सशर्करान्॥
माषपिष्टसगोधूमपिष्टासंस्कृतपोलिकाः॥१५॥
एवं यः पूजयेत् कृष्णं स वै कृष्णम् अवाप्नुयात्॥

इति श्रीसंवत्सरोत्सवकल्पलतायाम् आषाढोत्सवनिरूपणं
नाम एकादशं दलम्

(श्रावणोत्सवाः)

अथ श्रावणमासस्य निरूप्यन्ते महोत्सवाः ॥
श्रावणस्यादिमे पक्षे चन्द्रतारावले हरेः ॥१॥
शुभे दिने शुभे ऋक्षे हिन्दोलां रोपयेत् ततः ॥
आवाहयेत्तु तद्रूपं मूलमन्त्रेण भावतः ॥२॥
धूपदीपसुनैवेद्यारार्तिकैः पूजयेत् ततः ॥
कृष्णं समारोप्य धूपदीपे कृत्वा निवेदयेत् ॥३॥
सुस्वादुमोदकाद्यञ्च प्रभुं संदोलयेत् ततः ॥
प्रत्यहं दोलयेद् आभाद्रपक्षस्यादिपञ्चकान् ॥४॥
शुभं दिवसम् आलोक्य संदोल्योत्तारयेद् विभुम् ॥
उद्वासयेच्च हि दोलां विधिः प्रेमात्मकः स्वयम् ॥५॥

(पवित्रारोपणोत्सवः)

श्रावणे विमले पक्षे एकादश्यान्तु वैष्णवः ॥
पवित्रारोपणं कुर्याद् भद्राम् आवर्ज्य भक्तितः ॥६॥
क्षोमैः कार्यं ससूत्रैर्वा पवित्रं विधिवन् नरः ॥
ब्राह्मण्या कर्तितैः सूत्रैः स्वहस्तेन कृतैर् अथ ॥७॥
सुवर्णराजतक्षोमैः सूत्रकैस्तु सुशोभनैः ॥
पवित्रं शोभनं कुर्यात् षष्ठ्युत्तरशतत्रयैः ॥८॥
यद्वा द्विशतसप्तत्याऽशीत्युत्तरशतेन वा ॥
उत्तमादिविभेदेन पवित्रन्तु त्रिधोदितम् ॥९॥
तत्रोत्तमे शतग्रन्थि पञ्चाशद्ग्रन्थिमध्यमम् ॥
कनिष्ठन्तु तथा कुर्यात् षट्त्रिंशद्ग्रन्थिकं शुभम् ॥१०॥
साधारणपवित्राणि त्रिभिः सूत्रैः प्रकल्पयेत् ॥
चतुर्विंशद्-द्वादशाष्टग्रन्थीन्यत्र समाचरेत् ॥११॥
तथा रामार्चनाख्यायां चन्द्रिकायां निगद्यते ॥

उक्तं विष्णुरहस्येऽपि तदावश्यकतापि च ॥१२॥
तान्येवात्र प्रमाणार्थं लिख्यन्ते वचनानि हि ॥
तथाच विष्णुरहस्ये—
"श्रावणस्य सिते पक्षे कर्कटस्थे दिवाकरे॥१३॥
द्वादश्यां वासुदेवाय पवित्रारोपणं स्मृतम्" ॥
"द्वादश्यां श्रवणे वापि पञ्चम्याम् अथवा द्विजः॥१४॥
आनुकूल्येषु कर्तव्यं पञ्चदश्यामथापि वा"[१]॥
तथाच रामार्चनचन्द्रिकायां—
"पवित्रारोपणं विघ्नात् श्रावणे न भवेद् यदि॥१५॥
कार्तिक्यवधि शुक्लान्ते कर्तव्यम् इति भारत"[२]॥
हैमरौप्यताम्रक्षोमैः सूत्रैः कौशेयपद्मजैः॥१६॥
कुशैः काशैश्च कार्पासैः ब्राह्मण्या कीर्तितैः शुभैः॥
कृत्वा त्रिगुणितं सूत्रं त्रिगुणीकृत्य शोधयेत्॥१७॥
तत्रोत्तमं पवित्रं तु षष्ठ्या सह शतैस्त्रिभिः॥
सप्तत्या सहितं द्वाभ्यां शताभ्यां मध्यमं स्मृतम्॥१८॥
साशीतिना शतेनैव कनिष्ठं तत् समाचरेत्॥
साधारणपवित्राणि त्रिभिः सूत्रैः समाचरेत्॥१९॥
उत्तमञ्च शतग्रन्थि पञ्चाशद्ग्रन्थि मध्यमम्॥
कनिष्ठं तु पवित्रं स्यात् षट्त्रिंशद्ग्रन्थिशोभनम्॥२०॥
षट्त्रिंशच्च चतुर्विंशद्द्वादशेति च केचन॥
चतुर्विंशद्द्वादशादौ इत्येके मुनयो विदुः॥२१॥
तथाच विष्णुरहस्ये—
[३] "अष्टोत्तरशतं कुर्यात् चतुःपञ्चाशदेव वा॥
सप्तविंशतिरेवाथ ज्येष्ठमध्यकनिष्ठकम्" ॥२२॥
"अधमं नाभिमात्रं स्याद् ऊरुमात्रं द्वितीयकम्॥

---

१. द्रष्ट.चतुः.चिन्ता.२।२१.वि.रह. २. रामा.च.श्रा.कृ.

३. द्रष्ट.चतुः.चिन्ता.२।२१.वि.रह.

प्रलम्बतो जानुमात्रं प्रतिमायां निगद्यते"॥२३॥
सहस्रैः त्रीव्रतैः सूत्रैः सहस्रग्रन्थिसंयुतम्॥
प्रलम्बं जानुमात्रं तु पवित्रं चोत्तमोत्तमम्॥२४॥
गोदोहान्तरिते काले पूर्वेद्युर्वाधिवासनम्॥
न करोति विधानेन पवित्रारोपणन्तु यः॥२५॥
तस्य सांवत्सरी पूजा निष्फला मुनिसत्तम!॥
तस्माद् भक्तिसमायुक्तैर् नरैर् विष्णुपरायणैः॥२६॥
वर्षे वर्षे प्रकर्तव्यं पवित्रारोपणं हरेः॥
इत्यादिवचनैर्यस्मात् तदावश्यकमेव हि॥२७॥
तस्माद् यथाशक्ति कुर्यात् पवित्रं विधिवन्नरः॥
कृत्वा संस्थापयेत् पात्रे विधिना चाधिवासयेत्॥२८॥
प्रेमाञ्चिततनुर् भूत्वा श्रीकृष्णे तन् निवेदयेत्॥
नैवेद्यधूपदीपाद्यैर् मूलमन्त्रेण चार्चयेत्॥२९॥
नमस्कृत्य यथाशक्ति सितां च विनिवेदयेत्॥
एवं यः प्रयतो भक्त्या पवित्रोत्सवमाचरेत्॥३०॥
गोकुलाधीशपादाब्जे रतिस्तस्य दृढा भवेत्॥
न कुर्याद् यो नरो मोहात् पवित्रारोपणं हरौ॥३१॥
तस्य संवत्सरकृता पूजा निष्फलताम् इयात्॥

(रक्षाबन्धनम्)

श्रावण्यां पौर्णमास्यान्तु भद्राम् उल्लंघ्य वैष्णवः॥३२॥
भक्त्या श्रीगोकुलाधीशे रक्षाबन्धनमाचरेत्॥
विविधैः पट्टसूत्रैस्तु कृत्वा रक्षाम् अनुत्तमाम्॥३३॥
स्थापयित्वोत्तमे पात्रे कुंकुमारार्तिकादिकम्॥
कृत्वा च तिलकं बद्ध्वा रक्षां श्रीकरयोः शुभाम्॥३४॥
अर्पयित्वा च ताम्बूलद्वयं नीराजयेत् ततः॥

समर्पयेत् ततो भक्त्या नैवेद्यं गुणवद् मृदुम्॥३५॥
ताम्बूलम् अर्पयित्वा च प्रणमेद् दण्डवत् प्रभुम्॥

(उपसंहारः)

यासां तिथीनां पूर्वत्र निर्णयो न विवेचितः॥३६॥
ताश्च सूर्योदयव्याप्त्या ग्राह्यास्तु तिथयः शुभाः॥
श्रीगोकुलेशपादाब्जपरागारक्तचेतसा॥३७॥
भक्तानां तुष्टये प्रोक्ताः संवत्सरमहोत्सवाः॥
संवत्सरोत्सवदलैर्युक्तां कल्पलताम् इमाम्॥३८॥
तदर्थैकपरो दृष्ट्वा कुर्यात् कृष्णोत्सवान् हि यः ॥
भक्त्या स लभते भावं गोकुलाधीशपादयोः॥३९॥
स्वाचार्यचरणाम्भोजरेणुदास्यार्थिना कृता॥
न्यस्ता पुष्पाञ्जलिश्चेयं श्रीमदाचार्यपादयोः॥४०॥
संवत्सरोत्सवदलैर् युक्ता कल्पलता मया॥
तेनाचार्याः प्रसीदन्तु स्वतो निःसाधने मयि॥४१॥
ज्ञात्वाऽज्ञात्वापि यच्चात्र जीवबुद्ध्या निरूपितम्॥
क्षमन्त्वाचार्यचरणास्तत्स्वीयेषु दयालवः॥४२॥
गोवर्धनाधीशपादपद्मदास्यार्थिनस् सदा॥
कृतिनो व्रजराजस्य कृतिर् विजयतेतराम्॥४३॥

इति श्रीसंवत्सरोत्सवकल्पलतायां श्रावणोत्सवनिरूपणं
नाम द्वादशं दलम्

इति श्रीगोस्वामिश्रीव्रजराजचरणविरचिता
श्रीसंवत्सरोत्सवकल्पलता सम्पूर्णा

श्रीभागवतदशमस्कन्धत्रिचत्वारिंशाध्यायसुबोधिन्याः
श्रीव्रजराजकृता विवृतिः

॥ श्रीवल्लभो जयति भक्तहितैकबन्धुः ॥

व्रजसीमन्तिनीनेत्रमीननीरनिधिः प्रभुः ॥
करोतु शिशिरं मेऽन्तः स्वविलासतरंगितैः ॥१॥
स्वीयापराधतूलाग्निर्व्रजेशरतिदीपकः ॥
स्वाचार्यचरणाम्भोजरेणुः स्वीयं करोतु माम् ॥२॥
श्रीविठ्ठलपदाम्भोजपरागधनमोदतः ॥
स्वाचार्यविवृतान् भावान् वर्णयामि यथामति ॥३॥
पुरुषोत्तमवाक्यानां भावो यद्यपि दुर्घटः ॥
तथापि तत्कृपाधार्ष्ट्यं तरलीकुरुते मनः ॥४॥

ननु व्रजस्य नित्यत्वात् तत्र भगवल्लीलादीनां च नित्यत्वाद् भगवतोऽपि तत्र नित्यस्थितिरूपत्वाद् उद्धवप्रेषणम् अप्रयोजनकमिव आभाति इति आशंकानिराकरणम् अध्यायार्थोक्त्यैव कुर्वन्ति **त्रिचत्वारिंशकेऽध्याये** इति. अस्मिन्नध्याये **यशोदानन्दयोः स्वस्थित्यैव** निरोधो निरूप्यते इति अर्थः. पूर्वम् **उक्तोऽपि** इह **विशेषेण निरूप्यते** इति भावः. यतः **स्वस्थित्यैव** तयोः **निरोधनात्** निरोधस्य कृतत्वाद् इति अर्थः. विशेषेण निरूपणन्तु भगवतो मथुरादिषु अगमनेन इति भावः. एतज्ज्ञापनार्थमेव श्रीमदुद्धवप्रेषणञ्च. पूर्णपुरुषोत्तमस्तु व्रजात् न निर्गतएव, मथुरादिलीला तु प्रद्युम्नांशेनैव. अतएव श्रीशुकैः उक्तं "**ताः निराशाः निववृतुः गोविन्दविनिवर्तने, विशोकाः अहनी निन्युः गायन्त्यः प्रियचेष्टितम्**" (भाग.पुरा.१०।३९।३७) इति. **हि** इति युक्तश्च अयम् अर्थः ;

भगवदासक्तियुक्तानां भगवन्तं विना क्षणमपि स्थितिः न भवति. भगवान् अत्र आविर्भूय यथाक्रमं निरोधं कृतवान् तथैव निरूप्यते इति पूर्वं यशोदानन्दयोः निरोधो निरूप्यते इति अर्थः (१).

पश्चाच्च गोपीनां निरोधो निरूप्यते इति आहुः **गोपिकानाम्** इति. **ततो** यशोदानन्दनिरोध-निरूपणानन्तरम् एतदध्यायसमाप्तिम् आरभ्य अग्रिमाध्यायेन **गोपिकानां** निरोधो **वाच्यः** इति अर्थः. अनेन निरोधकथनेन **उक्तम्** **"आयास्ये इति दौत्यकैः"** (भाग.पुरा.१०।३६।३५) इत्यादि **समर्थितम्** इति भावः. ननु व्रजरत्नासु भगवतो दूतादिवाक्येन एतादृक्कथनमपि अनुचितम् इति आशङ्क्य आहुः **राजसत्वञ्च** इति. राजसत्वं तत्प्रेषणेन सिद्धम् इति अर्थः, अन्यथा प्रेमविरुद्धमेव प्रेषणं स्यात्. अतएव क्वचिद् उक्तं **"राजा मित्रं केन दृष्टं श्रुतं वा"** (पञ्चतन्त्र १।१५८) इत्यादि. यद्यपि भगवतो न तथा तथापि राजसप्रकरणत्वात् तथा इति भावः. **तेन गुणोत्कर्षश्च** रूप्यते ; नतु भगवान् तथा इति भावः. राजसगुणोत्कर्षख्यापनार्थं च उद्धवप्रेषणम्. अतएव व्रजभूषणाभिः अग्रिमाध्याये **"पित्रोः... प्रियचिकीर्षया"** (भाग.पुरा. १०।४४।४) इत्यनेन राजसगुणख्यापकमेव तदागमनं निरूपणीयम्. यद्वा **गुणोत्कर्षो** व्रजभाग्यसीमन्तिनीगुणोत्कर्षः इति भावः. अयमेव अर्थः **च**कारेण ज्ञाप्यते (२).

त्रिचत्वारिंशाध्यायार्थसन्दर्भे श्रीमदुद्धवप्रेषण-प्रयोजननिरूपणे **स्वस्यापि गमनम्** इत्यादि. अत्र इदं प्रतिभाति : **कार्यस्य** भक्तिमार्गपुरुषार्थात्मक-विप्रयोगानुभवस्य **आवश्यकत्वाद्** इति अर्थः. पुरुषोत्तमस्वरूपेण व्रजे नित्यस्थितिरेव उच्यते. लौकिकन्यायेन अत्र आगतस्वरूपस्मृतिमात्रेण श्रीनन्दादीनां विप्रयोगानुभवो भवति. सच अनेन स्वरूपेण तत्र गमने बाध्येतइति तस्यच आवश्यकत्वात् तदभावे

पूर्णरसदानाभावे न एतत्स्वरूपागमनम् इति भावः. ततो अग्रे क्षणमपि भगवद्विप्रयोगस्मरणे अत्यार्त्या तापाधिक्येन स्वरूपान्यथाभावं विचिन्त्य तत्सान्त्वनार्थं प्रेषणम् इति भावः. उद्धवस्वरूपनिरूपणाभासे **तत्र सन्ति** इत्यादि. भगवत्सुखचरित्रकथनेन भगवत्स्मरणकथनेन यशोदा-नन्दादीनां प्रकटसन्देशयोग्यत्वम्. मित्रभूतगोपादीनाञ्च वृन्दावने रसक्रीडौपयिक-तल्पादिरचनं; तत्र कृतक्रीडादिस्मारणेन भगवतः तद्विप्रयोगज-दुःखनिरूपणेन अल्पगोप्यत्वम्. व्रजसौभाग्यवतीनान्तु भगवत्प्रेमस्थानरूप-त्वाद् अतिगोप्यत्वमेव. तत्रच सन्देशबाहुल्याद् भावात्मकत्वाच्च लेखनाशक्यत्वम्. तच्चरणमकरन्दमत्तानां श्रीमदाचार्यलिखनचन्द्रोदयावलो-कात् स्वतएव भावाब्धिः उत्तरलो भविष्यति.

वृष्णीनां प्रवरः इत्यत्र **कुलीनः** इत्यादि निरूपणस्य अयं भावो : मातृपित्रोः निकटे कुलीनस्यैव प्रेषणम् उचितं, यतः तस्यैव सर्वत्र प्राशस्त्यम्. अन्यथा हीनसम्बन्धज्ञाने हीनत्वं स्याद् इति भावः. स्वगोत्रजत्वेन मित्रगोपेषु प्रेमप्राशस्त्यमेव कथयेद्, अन्यथा स्वस्यापि लज्जा स्यात्. महत्त्वेन प्रेमातिशय-कलिलान्तःकरण-वशाद् व्रजवरवधूनां वाक्यैः क्षोभाभावः इति भावः. तद्वाक्यभारवहत्वार्थं महत्त्वम् अपेक्ष्यते, अन्यथा प्रेषणम् अननुरूपं स्यात्. महद्वाक्यस्य प्रामाण्यत्वाद् "भगवान् आगमिष्यति" इत्यादिवाक्यानां च तत्रत्यानां प्रामाण्यं स्याद् इति भावः. **कृष्णस्य दयितः** इत्यस्य आभासे **तर्हि उचितमेव** इत्यादि. रसमार्गस्वरूपाज्ञानवद्-बुद्ध्या अनुचितत्वम्. भगवतस्तु प्रेममार्गरूपत्वाद् उपालम्भोपढौकनाद्यनेकरसयुक्त-सन्देशकथनमेव उचितत्वम् इति भावः. अतएव गुह्यार्थे **इति उक्तम्. सखा** इत्यत्र **भगवतः** इत्यादि. अत्र समानशीलत्वेन प्रियविप्रयोगकातरत्वधर्माएव विवक्षिताः नतु अन्येऽपि. तेन यथा भगवता स्वामिनीविप्रयोगासहिष्णुता तथा उद्धवस्यापि भगवद्विप्रयोगासहिष्णुत्वम्. तद्दुःखज्ञानादेव तत्र गमनम् इति भावः,

अप्राप्ततद्दुःखस्य अन्यस्मिन् तद्दुःखभावाभावात्. अतएव नारदेन उक्तं **"यथा कण्टकविद्धांगः"** (भाग.पुरा.१०।१०।१४) इति. तत्रैव पुनः साक्षाद् **इत्येतस्य विवरणे** एनं दृष्ट्वैव जानन्ति इत्यादेः अयं भावः : भगवत्सारूप्यत्वाद् एतद्दर्शनेन प्रियदर्शनइव सुखिताः भवन्ति इति अर्थः. यथा चित्रे प्रियाकृतिदर्शनेन आनन्दोद्बोधो रसानुभवसिद्धः तथा तादूरूप्यस्वरूपेणापि इति भावः. तेन अयं चित्रप्रतिकृतिवद् आपाततः सुखं करिष्यति, सर्वदा अनुवर्तमानस्तु विरहएव. अतएव अग्रे श्रीमदुद्धवैरेव क्लेशस्य अनिवृत्तिदर्शनसन्तुष्टैः तत्पादरजःप्राप्तियोग्यं जन्म प्रार्थितम्. एतज्ज्ञापनायैव श्रीशुकैरपि **"दृष्ट्वा.. कृष्णावेशात्मविक्लवम्"** (भाग.पुरा.१०।४४।५८) इति निरूपितम्. यद्वा विप्रयोगात्मक-रसस्वरूपम् इति भावः. यद्वा **एनं दृष्ट्वा** रसात्मकभावदानात्मक-स्वस्वरूपं **जानन्ति** इति अर्थः. अत्र अयं भावो : भगवतः स्वभावदानार्थं श्रीमदुद्धवः प्रेषितः. तद्दर्शनेन तथा ज्ञानम् अभूत् स्वामिनीनाम्. तज्ज्ञानानन्तरं च **"अस्मत्कृपयैव अयं रसो लभ्यो न अन्यथा"** इति स्वस्मिन् रसात्मकत्वात् प्रभुकृपां जानन्ति इति भावः. **बुद्धिसत्तमः** इत्यत्र **स्वतोपि** इत्यादि. स्वबुद्धिकौशलेन रसमार्गीयच्छायया सन्देशादिकथनेन भगवत्स्मरणादिकथनेन तत्रत्यानां दुःखदूरीकरणसमर्थः इति 'बुद्धिसत्तमः' उक्तः. तत्र गमनानन्तरं तत्कृपया पूर्णभावोदयानन्तरं बुद्धिः न स्थिरताम् आप्स्यति, नच तत्रत्यानां दुःखदूरीकरणसामर्थ्यं भविष्यति नवा दुःखनिवारणे कोऽपि पुरुषार्थः सिद्ध्यति इत्यादिरूपता भविष्यति इति श्रीशुकैः तथा उक्तम् इति भावः. अतएव अग्रे **"दृष्ट्वा कृष्णावेशात्मविक्लवम्"** (भाग.पुरा.१०।४४।-५८) इति वैक्लव्यदर्शनानन्दभरेण नमस्कारं कृत्वा प्रार्थयिष्यति इति निरूपयिष्यते ॥१॥

तम् आह इत्यस्य विवरणे 'तच्'छब्दव्यञ्जितनिरूपणे **तेन कार्यम्** इत्यारभ्य **प्रेषणीयः** इत्यन्तं निरूपणस्य अयं भावः : 'तच्'छब्दस्य

पूर्वपरामर्शित्वात् पूर्वोक्तधर्मविशिष्टेनैव कार्यसिद्धिः इति भावः. व्रजवासिनश्च **अत्यन्तम् अनुरोध्याः** निरोधाधिकारिणः; तेषां **स्वस्य अगमनार्थं** विप्रयोगानुभवसिद्ध्यर्थं च इति भावः. **च**कारो अत्र देहलीदीपन्यायम् उभयत्र अर्थप्रकाशकत्वेन अनुहरति. उद्धवोऽपि **अत्यन्तं प्रेष्ठः प्रियश्च** अतः तद्दर्शनजातभावांकुरेण स्वरूपरसदानार्थं **प्रेषणीयः** इति भावः. प्रद्युम्नरूपत्वेऽपि प्रवेशात् "**शास्त्रदृष्ट्यातु उपदेशो वामदेववद्**" (ब्र.सू.१।१।२९) इति न्यायेन कपिलादिवत् रूपान्तरेण उपदेशो न बाधकः इति ज्ञेयं सर्वत्र अत्र. **प्रेष्ठम्** इत्यस्य अर्थनिरूपणे **अतः स्वसमानः इति प्रतिनिधित्वाद्** इत्यादि. स्वस्वरूपं विना तेषां येन केनापि सान्त्वनं न स्याद् इति स्वान्तरंगप्रेषणम् इति भावः. दूतदर्शनज-विप्रयोगस्मरणोद्भूत-तापनिवृत्तिः अन्येन न भवतीति **स्वसमान इति प्रतिनिधित्वाद्** यत्किञ्चित् स्वास्थ्यार्थम् इति भावः. **क्वचिद्** इत्यस्य **अर्थनिरूपणे** एकान्ते यत्र कोऽपि न पश्यति इति. "**प्रत्यागमनसन्देशैः**" (भाग.पुरा.१०।४३।६) इति अग्रे वाच्यत्वात् तत्रत्यानाम् एतच्छ्रवणे दुःखं स्यात्, तत्रत्यनित्यस्थित्यज्ञानात्, तदर्थं सर्वादृश्यस्थाने कथनम् इति भावः ॥२॥

भगवदुक्तश्लोकचतुष्टय-तात्पर्यम् आहुः **प्रमाणञ्च** इति. आद्यश्लोके स्वयं तत्र पितृत्वस्थापनेन व्रजमण्डनासु च स्वस्यैव वियोगाधित्वकथनेन तस्य च स्वसन्देशैरेव मोचने प्रमाणत्वम्. द्वितीये स्वस्वरूपात्मकत्व-स्वार्थदेहधर्मादित्यागोक्त्या प्रमेयत्वं, स्वस्य तत्प्राणधारणोक्त्या च. तृतीये स्वस्य प्रियत्वात् तत्संगाभावे स्मरणेन मूर्च्छया कातरत्वोक्त्या उपपत्तिरूपत्वम्. चतुर्थे अतिकृच्छ्रेण प्राणधारणोक्त्या तद्धारणसाधनेन स्वसन्देशोक्त्या बाधकत्वम्. एतच्चतुष्टयं विना प्रेषणं न स्यात्. **हि** युक्तश्च अयमर्थो यद् एतच्चतुष्टयं विना स्वांगीकृतान्तरंगप्रेषणं न उचितम् इति भावः (३).

मत्सन्देशैः इत्यस्य विवरणे **मत्पत्रलिखितैः तत्र प्रकटीकृतैः** इत्यादेः अयं भावः : एतेषां सन्देशानाम् अतिगुप्तत्वाद् रसयोग्यत्वं विना वक्तुम् अयोग्यत्वात् पत्रमध्यएव लिखिताः ते इति भावः. तत्र तासाम् अवस्थासहित-स्वरूपदर्शनेन तद्भावोदयानन्तरं योग्यता भविष्यति इति **तत्र प्रकटीकृतैः** इत्यनेन ज्ञाप्यते. अतएव उद्धवैरपि तच्चरणरेणुप्राप्तियोग्यं जन्मापि प्रार्थनीयम्. यद्वा प्रेमरसस्वभावेन प्रियास्मरणे न एकान्ते सन्देशो लिखितुं पार्यते. तत्स्वरूपाभिनिवेशात् नतु कस्यापि अग्रे कथनसम्भवो यतः तददर्शनेन दूतदर्शनेन च दुःखातिशयात् तस्य च प्रेमरसानुभवैकवेद्यत्वाद् इति भावः. ननु आनन्दमयस्य भगवतो दुःखाद्यसम्भवएव कथं तत्कथनम्? कथंवा तासां दुःखं स्वेच्छयैव ईश्वरत्वाद् न दूरीकृतवान्? सत्यं, भगवति तद् असम्भावितं, परं रसमार्गस्थत्वेन भगवता रसमार्गमर्यादयैव एतासु रसदानस्य कृतत्वात् स्वयञ्च तन्मर्यादयैव रसभोगस्य कृतत्वात् तथात्वं युक्तमेव इति भावः. अतएव "**आत्मारामोऽपि अरीरमद्**" (भाग.पुरा.१०।२६।४२) इति उक्तम्॥३॥

ताः मन्मनस्काः इत्यत्र **अस्मत्कथने** इत्यादि. अत्र अयं भावो : भगवान् सर्वेषु न मनोरूपेण तिष्ठति एतासु च तिष्ठति इत्यत्र भगवद्वाक्यमेव प्रमाणम् इति भावः. एवं सति अहमेव मनो यासाम् इति अर्थः सम्पत्स्यते. मन्मनोरूपाश्च ताः इत्यत्र हेतुः **प्रमेयबलत्वेन** इति. अत्र अयम् अर्थः : भगवन्मनोरूपता अन्येषां न सम्भवति. तथा चेद् भगवान् करोति तत् प्रमेयबलेनैव. तच्च प्रमेयबलं प्रभुणा अत्र प्रकटीकृतम्. सर्वप्रमाणनिरासकत्वं प्रमेयबलस्य स्वतःसिद्धम्. अतएव श्रीदेवकीजलधिचन्द्रेण "**मय्यावेश्य मनः**"(भग.गीता.१२।२) इत्यारभ्य "**ते मे युक्ततमाः मताः**" (भग.गीता १२।२) इत्यन्तं निरूपितम्.

एताः स्वसौन्दर्यप्रेमादिधर्मैः भगवन्मनोरूपाः भूत्वा भगवति तिष्ठन्ति. तथाच सति एतासां प्रमेयबलत्वं सिद्धम्. श्रीगोकुलजनप्राणनाथेनापि "**मय्यावेश्य**" इत्यारभ्य "**माम् अवाप्स्यथ**" (भाग.पुरा.१०।४४।३७) इत्यन्तं बलात्कारेण मनोनिवेशनं निरूपणीयम् अग्रिमाध्याये. **प्राणिनाम् आत्मा** इत्यारभ्य **तथा न आदरणीयः** इत्यादि. सर्वेषाम् आत्मा यथा मदीयः इति त्वया ज्ञायते तथा तासु त्वया न आदरणीयः, सर्वसाधारणवद् इति भावः. यतः तेषु तासु च बह्वेव तारतम्यम् आहुः **किन्तु** इत्यादिना. उत्पत्तिशिष्टत्वोक्त्या अन्यपरत्वेन पूर्वं पित्रादीनां पश्चाच्च भर्त्रादीनां च इति ज्ञाप्यते. एतासान्तु भगवत्सेवार्थमेव प्राकट्यात् न तथात्वम्. **मदर्थं त्यक्तदैहिकाः** इत्यत्र '**दैहिकाः**' **देहोपयोगिनः** इत्यादेः अयं भावो : देहोपयोगिनः पदार्थाः स्वसुखभोगार्थं त्यक्तव्याः किन्तु भगवदर्थं देहोपयोगः चेत् तदा तदुपयोगार्थं कर्तव्याएव. ततः तेषां भगवदुपयोगित्वं, नतु देहोपयोगित्वम्. तस्मात् तथाविधास्तु त्यक्तव्याएव. **मदर्थे** इति कथनाद् भगवदाशयैव तत्त्यागः इति भावः. अतएव एताभिरेव उक्तं चिरात् "**त्वयि धृतासवः**" (भाग.पुरा.१०।२८।१) इत्यादि ॥४॥

मयि ताः इत्यस्य आभासे **फलसाधकत्वाद्** इत्यादि. भक्तिमार्गफलं साक्षात् सम्बन्धः, सच विप्रयोगानन्तरं जातो महारसरूपः तत्साधकः इति तथा. **विरहएव** इत्यादेः अयं भावः : संयोगेतु अग्रिमरसप्राप्त्यर्थं यत्नादिकरणे मनो भवति, नतु पूर्वानुभूतलीलास्पर्शः कदाचिद् भवेत्. विरहेतु अन्तःप्रकटे प्रिये पूर्वानुभूतलीलासहिते महारसः उत्पद्यते. सच पुरुषार्थरूपः इति विरहस्य पुरुषार्थता. **गोकुलस्त्रियः** इत्यत्र **विचार-चातुर्यादिरहिताः** इत्यादि. स्वविप्रयोगस्य प्रत्यहं जायमानत्वात् प्रतिरात्रं तदभावत्वाच्च तत्स्मरणाभावात् तथात्वम् इति भावः. यद्वा "भगवान् अस्मासु अत्यन्तं सुस्निग्धइति अस्माभिरपि

तथा स्नेहो विधेयः'' इति विचारः, विना विप्रयोगदुःखं प्रियज्ञापनार्थं कृत्रिमदुःखज्ञापनं = चातुर्यं, तद्रहिताः इति अर्थः. एतास्तु साहजिकतथाविधस्नेहवत्यो यत् स्मरणमात्रेणैव मूर्छिताः भवन्ति इति भावः. **स्मरन्त्यः** इत्यस्य विवरणे **स्मरणमात्रमेव मूर्छाहेतुः** इत्यादेः अयं भावो : मध्ये केनचिद् उक्ते सति भगवान् अक्रूरसंगे गतः इत्यादिस्मरणेनैव मूर्छा भवति इति भावः. **न हि दृष्टे अनुपपन्नम्** इति, अन्तर्गृहगतानाम् इति अर्थः. **विरहौत्कण्ठ्यकातराः** इत्यस्य विवरणे **मत्स्मरणे मूर्छा मद्धर्मस्मरणेतु कातरत्वम्** इत्यस्य अयं भावो : भगवत्स्मरणं विप्रयोगे सति तस्य मूर्छाहेतुत्वं सिद्धमेव. भगवद्धर्माः स्वविप्रयोगासहिष्णुत्वादयः, तत्स्मरणे कातरत्वम् इति भावः ॥५॥

प्रायः इत्यस्य अर्थनिरूपणे **बह्व्यो मृताः** इति, "तासां चेत् कुशलं स्यात् तदा मम एतादृक्कलेशो न स्याद्" इति भगवता उक्तम्. नतु तत्र काचिद् अन्या सम्भावना अस्ति. **कथञ्चिद्** इत्यस्य विवरणे **न कापि** इत्यारभ्य **धारयति** इत्यन्तम्. प्रियविप्रयोगे मरणमेव धर्मः परं **जीवनम् अस्ति** मम इति शेषः. तेन मम जीवनेन किञ्चित् साधनं मद्दुःखज्ञानेन मदर्थं धारयन्ति इति अर्थः. भगवतः तथाभावस्तु रसात्मकत्वाद् वेदादिषु लोकेषु वा अप्रसिद्धः, तेन **कथञ्चन** इति उक्तम्. उद्धवस्यापि इदानीं बोधनम् अनुचितं; तासाम् अनुग्रहेण च ज्ञानं भविष्यत्येव इति **कथञ्चन** इति गुप्ततया उक्तम् इति भावः. अयमेव अर्थः **प्रमेयबलेन** इत्यादिना निर्णीतः. भगवदिच्छया अस्मद्भाग्येन जीवनम् इति ध्वनिः. रसात्मकभगवद्धर्मास्तु एतादृशाएव इति न अत्र शंका. अतएव गीतगोविन्दे "**हरि हरि हतादरतया**" (गीतगोवि.७।१) इत्यादि भगवद्वाक्यानि विलसन्ति. एतदेव "**मय्येव सति जीवन्ति**" (सुबो.१०।४३।४) इत्यनेन निरूपितम्. **कथञ्चन** इत्यस्य विवरणे **अप्रसिद्धत्वाद्** इति. भगवता रसाधिक्यसमये तासु कानिचिद्

वाक्यानि तथाविधानि प्रकटीकृतानि यैः कृत्वा यथाकथञ्चित् प्राणाः रक्षणीयाएव भवन्ति तासाम्. अतएव अग्रिमाध्याये ताभिरेव निरूपणीयं "**दुस्त्यजस्तत्कथार्थः**" (भाग.पुरा.१०।४४।१७) इति. प्राणरक्षार्थं कथावलम्बनम् इति श्रीशुकैरपि "**क्षणं युगशतमिव**" (भाग.पुरा.१०।१६।१६) इत्यनेन बहुकालजीवनमपि एतदाशयनैव उक्तम्. **प्रत्यागमनसन्देशैः** इत्यत्र **आगमिष्यति** इत्यारभ्य **पत्रे स्पष्टो भविष्यति** इत्यादि. आगमनस्य जीवनसाधनत्वन्तु "अस्मद् अन्यथाभावानन्तरं भगवान् आगत्य दुःखितो भविष्यति" इति भगवदागमनाकांक्षया ज्ञात्वा स्वदुःखसहनेनापि जीवरक्षा कार्या इति भावः. "तद् आगमनं **कालेन** उक्तं समयेन **चेद् जीर्णं** स्यात् तदा तु पुनः तथैव इति किं मत्प्रेषणेन" इति उद्धवहार्दम् अभिप्रेत्य उच्यते. तदर्थम् उपायान्तरं कर्तव्यम्. सच उपायः पत्रे "**यत्त्वहम्**" (भाग.पुरा.१०।४४।३५) इत्यारभ्य "**अचिरान् माम् अवाप्स्यथ**" (भाग.पुरा.१०।४४।३७) इत्यन्तं स्पष्टो भविष्यति ॥६॥

इत्युक्तः इत्यस्य विवरणे. **भर्तुः** इत्यत्र **भर्ता हि स्वामी, अनेन पातिव्रत्यम्** इत्यादि. उद्धवस्य मध्यात्वभावस्तु सार्वदिकएव परं तद्योग्यदेहाप्तिस्तु व्रजनितम्बिनीचरणरेणुकृपाभावेन भवति. तदर्थमेव च भगवता अयं प्रेष्यते इति भावः. अतएव श्रीगोपीजनजीवनचरणरेणुप्रिया-निरूपित-नामविवरणे "**गोपीमनोरथाक्रान्तः**" (प्रेमामृत.३२) इत्यत्र अस्मद्भाग्योदयाचलसुधादीधिति-श्रीवल्लभनन्दनचरणैः निरूपितम् "**अस्मद्व्यतिरिक्तभावस्य न तत्र प्रवेशः**" (प्रेमामृत.विव.३२) इति. एतद्भावदार्ढ्यमेव उक्तं **तत्रापि आदरपूर्वकं परमपुरुषार्थं प्राप्तः** इत्यादिना ॥७॥

प्राप्तो नन्दव्रजम् इत्यस्य आभासे **स्मारकेण तासाम्** इत्यादि. दिवसे यत्किञ्चिद्विरहस्य स्थितत्वाद् अक्रूरसहगमनस्मारकत्वात् तस्य

दर्शनादेव तदाधिक्यं भविष्यति इति तासां भगवदागमनोत्साह-विस्मृतदेहगेहादिसमये गमनम् इति भावः. अयमेव अर्थो **निम्लोचति विभावसौ** इत्यस्य विवरणे **सर्वषां लौकिकवैदिककर्मणि वैयग्र्यात् स्वाज्ञानं सूचितम्** इत्यनेन व्यक्तीकृतः. अस्य भावस्य गोप्यत्वात् **सर्वेषां लौकिकवैदिके**त्यादिकथनम् इति भावः. **प्राप्तो नन्दव्रजम्** इत्यस्य निरूपणे **विशेषाकारेण** इत्यादि. रात्रिसमयएव पितृचरणानां वियोगकालत्वात् तत्रैव गमनम् इति भावः. स्वामिनीनान्तु रात्रौ प्रभुसङ्गमकालः इति तत्र प्रातः गमनम् ॥८॥

वासितार्थे इत्यादेः आभासे **भगवद्रहितत्वाद्** इत्यादि, तत्रैव पुनः **ऐश्वर्यरहिताः अन्ये गुणाः सन्ति** इत्यस्य अयं भावः. गोकुलस्य भगवद्रूपत्वाद् पञ्चधा वर्णनं कथम् इति आशङ्क्य आहुः **ऐश्वर्ये**त्यादि. ईश्वरत्वं हि प्रेमविरोधि तस्मात् तं भगवान् अत्र त्यक्त्वैव प्रेमवशगः सन् रमते. तेन तद्रहितत्वम् इति भावः. अन्यथा तस्मिन् सति गोचारणादिकं, गोपेषु सख्यं, व्रजभाग्यभूमिकनकलतिकासु च गीतोक्तन्यायेन "**भण मसृणवाणि करवाणि चरणद्वयं सरसगलदलक्तकरागम्-**"(गीतगोवि.१९।७) इत्यादिकं न सम्भवति इति तदभावः इति भावः. अत्र च भगवान् तृतीयपुरुषार्थलीलयैव रसदानं करोति, तदनुगुणपदार्थानेव अत्र प्रकटयति इति ज्ञापनाय वीर्यनिरूपणे पशूनामपि कामलीलैव निरूपिता. अयमेव अर्थो अस्मत्प्रभुचरणैः **वीर्यं कामे** इत्यादिना व्यक्तीकृतः ॥९॥

गायन्तीभिश्च इत्यत्र. **गानं च यशोरूपं स्त्रियश्चेद् गायन्ति** इत्यस्य अयं भावः— पुरुषाणान्तु तद्विप्रयोगाननुभवेन गानं भवेत्, परं स्त्रीणां सन्ध्यासमये प्रियवियोगानुसन्धानेन दुःखाधिक्याद् गानम् असम्भावितम्. ताश्च तदैव गानं कुर्युः यदि तदागमनानन्दाविर्भावो

हृदि स्यात्. तस्माद् अत्र तासां गानोक्त्या श्रीगोकुलाधीशागमनोत्सवामृत-जलधिवीचित्वं गानस्य ज्ञाप्यते इति भावः. स्त्रीणाम् अगानं चेत् स्यात् तदा तासां दुःखसम्भानं स्यात्. तदा भगवतो असाधारणं यशो न स्यात्. भगवतश्च इदमेव यशो यद् व्रजार्तिहरणम्. अतएव एताभिरेव उक्तं "**व्रजभयार्तिहन् वीर योषिताम्**" (भाग.पुरा.१०।२८।६) इत्यादि. नहि गोपीपतिं विना 'योषितां वीर' इति सम्बोधनम् अर्हति अन्यः. तेन स्त्रीणामेव गानं भगवतो यशोरूपम् इति भावः. अयमेव अर्थः श्रीमदाचार्यैः **स्त्रियश्चेद्** इत्यनेन निर्णीतः ॥११॥

अग्न्यर्कातिथि इत्यस्य आभासे **प्रवृत्तिस्वभावमेव ज्ञानम् उपयोगि** इति. निवृत्तिस्वभावज्ञानस्य मोक्षसाधकत्वात् श्रीगोकुले तु नन्दगृहे प्रकटस्य पुरुषोत्तमस्यैव फलरूपत्वात् प्रवृत्तिस्वभावस्यैव उपयोगः इति भावः. **अग्न्यर्कातिथि** इत्यस्य विवरणे **अनेन श्रौतः** इत्यादि. भक्तेरेव मुख्यत्वाद् एतद्धर्मद्वयमपि वर्तते परन्तु तस्य भगवति विनियोगात् तन्मध्यपातित्वमेव तयोः, नतु मुख्यत्वम् ॥१२॥

तमागतम् इत्यस्मिन् पद्ये **नन्दः** इत्यस्य अर्थनिरूपणे **अतः** इत्यादि. कृष्णसेवकत्वं तदैव पूर्णं भवति यदा व्रजे व्रजनाथदर्शनं भवति. तदर्थं भगवत्प्रेषित-तथाभूतोद्ध**वागमनेनैव प्रीतः** इति भावः. अयमेव अर्थो **अनेन स्वशेषत्वम्** इत्यनेन उक्तः. यद्वा **आगमनेनैव प्रीतः अतो नन्दः** निरोधमध्यपात्यानन्दरूपः इति भावः. अन्यथा मथुरातः आगतस्य दर्शनेन "**भगवान् तत्र अस्ति, तत्सन्देशहारको अयम्**" इत्यादिना दुःखमेव भवेत्, न प्रसन्नता. प्रीतत्वेन च अत्र नित्यस्थितिः ज्ञापिता, तेन नन्दत्वम् आनन्दरूपता इति भावः. **नन्दः प्रीतः** इत्यत्र **अनेन स्वशेषत्वम् उक्तम्** इति श्रीनन्दस्य तदागमनेन प्रीतत्वात्. अन्यथा रात्रौ भगवद्विप्रयोगे क्लेशेन अप्रीतत्वं ; तद्दर्शनेन

भगवद्वार्तया रात्रिः गमिष्यति इति जातप्रीतिः इति. अयमेव अर्थः श्रीमदाचार्यैः **आगमनेनैव प्रीतः** इत्यनेन उक्तः ॥१४॥

सखा इत्यस्य विवरणे वैमनस्यपरिहारनिरूपणम् उद्धवबुद्धिम् अनुसृत्य, वसुदेवहार्दस्थं स्वपुत्रकुशल-पूर्वकन्यामारणाभिप्रायेण लोकबुद्धिम् अनुसृत्य इति अर्थः ॥१६॥

अपि स्मरति इति श्लोकदशकाभासे **तस्य** इत्यारभ्य **उक्तं भवति** इत्यन्तम्. आद्यश्लोके कुशलम् उक्तम्. स्वस्मरणप्रश्ने ततः कुशलं निरूपितं यतः स्वयं कुशल्येव अस्मत्स्मरणं कुर्याद् इति भावः. द्वितीयश्लोकेन भक्तरक्षा निरूपिता ; यतः स्वविप्रयोगेन क्लिष्टान् स्वयम् आगत्य रक्षां कुर्यात् तदैव रक्षा स्यात्, न अन्यथा इति भावः. रक्षार्थम् अस्मासु स्वजनत्वस्थापनेन अस्मदीक्षणार्थम् आगमिष्यति इति, अन्यथा ईश्वरः सर्वनिरपेक्षः कथम् आगच्छेत्! तृतीयश्लोकेन ऐश्वर्यकथनम्. भगवतश्च अयमेव धर्मो यद् भक्तदुःखनिवारकत्वम्. दावाग्निपानेन अन्येभ्यश्च दुरत्ययेभ्यो अप्रतीकार्यमृत्युभ्यश्च अनायासेन रक्षा न ऐश्वर्येण विना भवेद् इति भावः. तुरीयेण वीर्यनिरूपणम्. वीर्यस्य अयमेव स्वभावो यद् वीर्यस्मरणेन सर्वक्रियाशैथिल्यं भवति. पञ्चमेन ज्ञाननिरूपणम्. ज्ञानस्य अयमेव स्वभावो येन भगवदात्मकत्वं भवति. भगवच्चरणचिह्नदर्शनेन च तदात्मकत्वं तद्रूपत्वम् इति भावः. षष्ठश्लोकेन वैराग्यं निरूपितम्. भगवतो वैराग्यं भक्तातिरिक्तेषु. तत्र च प्राकट्यं भक्तद्वेषिदैत्य-निराकरणार्थं, तच्च तद्रूपमेव इति भावः. सप्तमेन यशो निरूपितम्. भगवतश्च इदमेव यशो यद् दैत्यादिनिवारणम् अनायासेन लीलयैव भवति. अष्टमश्लोकेन श्रीनिरूपणम्. श्रियश्च अयमेव धर्मो यत् सर्वतुच्छकरणम्. अत्र च इन्द्रमदहरणार्थं श्रीगोवर्धनोद्धरणं तद्रूपम् इति भावः. नवमे पराक्रमता स्पष्टैव. दशमश्लोकेन निर्गुणवर्णनम्.

गुणातीतस्वरूपलीला-स्मरणेनैव प्रेमाधिक्यं भवति इति अस्य निर्गुणता इति भावः. **आत्मनाथम्** इत्यत्र **आत्मैव** इति. स्वनाथत्वेन स्वस्य आनन्दरूपत्वात् तत्र दुःखस्य अनुचितत्वात् स्मरणे तद्दुःखस्मरणं च स्यात्, तेन शीघ्रम् आगच्छेद् इति भावः. **गिरिम्** इत्यस्य विवरणे **विशेषलीलाधारः** इति. विशेषलीला = आसारपीडनजनित-सभयकातरावलोकि-स्वप्रियादर्शनजनित- रक्षणोत्साहसाधनत्वेन धारणं, तदनु प्रियबाहुस्थितशिखरिवर- भारावलोकनजनित-स्वहृदयखेदज्ञापक-कातरतर-सजलदृष्टिपातावलोकनाप्त-प्रेमप्रमोदभरात्मिका, तस्याः आधारः = स्थानम् इति भावः ॥१८॥

गोविन्दः इत्यस्य विवरणे **देवादिभिः** इत्यादेः अयम् आशयः — त्रैलोक्याधिपतेरपि सर्वज्ञैः देवादिभिः अत्र इन्द्रत्वस्थापनेन तद्राज्याद् अत्र महत्त्वं ज्ञायते इति अत्र आगमनमेव उचितम् इति भावः. **तर्हि द्रक्ष्यामः** इत्यत्र **आगमनमेव हि निरोधज्ञापकम्** इति. तत्र गमने अत्र भगवत्स्थित्यसम्भावना स्यात्. सा च निरोधविरोधिनी. प्रेमवतां च तत्सम्बन्धं विना क्षणमपि स्थातुं न शक्यम् अतो अत्र अनागमने सति भगवतो निरन्तरं स्थितिरेव ज्ञाप्यते इति भावः. ननु निरन्तरं तत्र भगवत्स्थित्या आगमनसम्भवो न सम्भवति इति चेत्, सत्यं, तत् न सम्भवति, परं तत्सम्भावना तु उद्धवदर्शनाद् भगवद्गमनादिस्मरणेन कादाचित्का तद्दर्शनपर्यन्तमेव उच्यंते इति न कोऽपि विरोधः इति भावः ॥१९॥

स्मरतां कृष्णवीर्याणि इत्यस्य विवरणे **भगवतः स्थाने गमनम्** इत्यारभ्य **शैथिल्यं भवति** इत्यन्तनिरूपणस्य अयं भावः — भगवतः षड्गुणैश्वर्ययुक्तस्य स्थाने प्रेमव्यतिरेकेण न प्रभवति यतः ईश्वरस्य अपेक्षाभावात्. यद्वा भगवत्प्रेम्णा गमनं सम्भवति, तत्तु न सम्भाव्यते.

तत्र चेत् प्रेमोत्पत्तिः स्यात् तदा आगच्छेदेव. गमनन्तु भगवदानयनार्थं, तच्च भावद्वयसाकाङ्क्षम्. भगवान् प्रेमभरेण तत्र दुःखितो मा अभूत्. तथाच **अस्मदीयो भगवान् किमिति तत्र तिष्ठति** स्वीयत्वादाने यः इति अर्थः. "**वयं भगवदीयाः**" इति सर्वेषामेव स्फुरति, "**भगवान् अस्मदीयः**" इति तु कृतपुण्यपुञ्जानां प्रेमवतामेव स्फुरति इति भावः. भगवता स्वस्य तदीयत्वं कृपया प्रदर्शितम् इति **उपकारं कृतवान्**, नतु अन्यथा. तस्माद् एतादृशवीर्यवतो भगवतो **अस्माभिः किं** कार्यं येन अस्मदीयत्वम् अङ्गीकृत्य आगच्छेत् तेन धाष्ट्र्याभावाच्च **शैथिल्यं भवति.** अतो भगवान् स्वकृपयैव आगमिष्यति इति तत्र आगमनम् इति भावः. **लीलापाङ्ग** इत्यस्य विवरणे **ऐश्वर्यं प्रकटीभवद्** इत्यादेः अयं भावः— ऐश्वर्ये सति प्रेम न सम्भवति, तस्मात् तद्**धाष्ट्र्यं** प्रेमकृतं **दूरीकरोति** इति भावः. यद्वा अत्र भगवान् आगमिष्यति न वा इति सन्देहेन एतत्स्थानत्यागार्थं तत्र गमनार्थं च यथाकथञ्चित् धाष्ट्र्यं क्रियते, तच्च भगवान् स्वैश्वर्यं प्रकटीकृत्य पूर्वोक्तधर्मैः सह अत्र रमन्नेव दूरीकरोति इति भावः. अयमेव अर्थो **न अस्माकं गमनसामर्थ्यम्** इत्यनेन व्यक्तीकृतः. **चकारद्योतितार्थम्** आहुः **सर्वम्** इति. सर्वं यत् तत्र गतो अस्ति तत् सत्यं, परम् अत्रतु भगवान् पूर्ववत् सुखं ददाति एतत् सर्वं भगवच्चरित्रम् इति भावः. एतच्च प्रेमरूप-नित्यलीलात्मकत्व-स्वानुभवेन उच्यते, न ज्ञानम् आश्रित्य. एतदर्थमेव **अङ्ग** इति सम्बोधनम् अप्रतारणार्थम्, उद्धवस्य एतद्भावानवबोधाद् इति भावः ॥२१॥

सरिच्छैल इत्यत्र **यत्र-यत्र भगवता स्वानुभावः स्थापितः** इति. **यत्र-यत्र** रमणस्थलेषु **स्वस्य अनु** पश्चात् स्थलम् अनुलक्षीकृत्य वा **भावः** क्रीडात्मकः **स्थापितः** इति भावः. तेन स्वरूपसहितक्रीडायाः नित्यत्वमेव इति भावः ॥२२॥

यशोदा इत्यत्र **नन्देनैव** इत्यारभ्य **स्नुतपयोधरा जाता** इत्यन्तम्. नन्देनैव वर्ण्यमानानि, नतु स्वयं वर्णयति, यतः तस्याः स्त्रीत्वात् साहजिकस्थानत्वात् प्रेम्णा न वर्णयितुं शक्यम्. अतो **नन्देनैव वर्ण्यमानानि भगवतः चरितानि** उद्धवागमनेन तत्र गमनसहितानि **शृण्वन्ती** स्वयमपि भगवान् तत्र गतः इत्यादि पूर्ववृत्तान्तं **स्मरन्ती अन्तःप्रेमपूर्णा** तद्भावयुक्ता तत्स्मरन्ती सती **नेत्रयोः अश्रूणि अस्राक्षीत्** ज्ञानेन्द्रिययोः तथात्वेन उद्धवो न दृश्यते इति भावः. स्मरणमात्रेणैव **विरहव्याकुला जाता** इति भावः. तेन उद्धवागमनजात-श्रीनन्दकृतभगवद्वर्णन-स्मरणाभावे नित्यं भगवतः तत्रैव स्थितत्वाद् विरहाभावएव इति भावः. उद्धवदर्शनेन उपरिभावादर्शनाद् **अन्तर्भगवदावेशेन दृढप्रेमा** जाता, तेन स्नुतौ पयोधरौ यस्याः तादृशी जाता. तयोस्तु तत्त्वोक्त्या तत्प्रेमातिशयेन तदैव भगवान् प्रकटो जातः इति ज्ञाप्यते, अन्यथा दर्शनं विना स्नावाभावः इति भावः ॥२८॥

तयोः इत्थम् इत्यस्य आभासे **परम् अयं लौकिकः** इत्यादि. **लौकिकः** केवलं पुत्रात्मकज्ञानरूपः, सच (**अलौकिकः!**) पूर्णपुरुषोत्तमात्मक-ज्ञानरूपः **कर्तव्यः** तदर्थमेव उद्धवप्रेषणम्. तेन पुरुषोत्तमस्वरूपज्ञानोपयोगि-भक्तत्वम् आह इति भावः. **अयं च** इत्यनेन माहात्म्यज्ञानानन्तरं "**पुरुषोत्तमएव अस्मत्पुत्रः**" इत्यादि रूपात्मकता स्नेहस्य कर्तव्या इति व्यज्यते. अतएव उक्तं "**माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोधिकः स्नेहो भक्तिः इति प्रोक्तः**" (नार.पञ्च.) इति भक्तिलक्षणम्. **नन्दम् आह** इत्यस्य आभासे **यशोदा कदाचित् लज्जिता भविष्यति** इति. उद्धवस्य अत्र भगवन्नित्यस्थित्यज्ञानेन भगवदागमनकथनपूर्वक-मथुरास्थितिकथनेन भगवद्विप्रयोगे क्षणमपि स्थित्यनौचित्या मातृचरणानां च स्थित्या लज्जितात्वम् इति भावः. अयमेव अर्थः श्रीमद्'उद्धव'नामनि-रुक्त्या निर्णीतो अस्मत्प्राणनाथचरणैः. ननु **नन्दयशोदयोः**

इत्यनेन उभयोरपि प्रेमसमत्वनिरूपणात् नन्देऽपि तथात्वं स्यादेव इति कथं नन्दे तदभावः इति चेद्, उच्यते यशोदायाः स्त्रीत्वाद् अल्पधैर्यवत्त्वेन शास्त्रार्थाज्ञानात्, नन्दस्य पुरुषत्वाद् गर्गोक्तादि-शास्त्रार्थज्ञानवत्त्वेन तदभावः इति अर्थः. नन्दत्वाद् वा आनन्दरूपत्वात् तद्दर्शनादिनापि अन्तर्भगवदावेशाद् अन्तर्भगवत्संगतत्वेन विप्रयोगास्फूर्त्या तदभावः इति भावः. **मुदा** इत्यस्य विवरणे **भगवद्भक्तान् दृष्ट्वा सम्भाषणेन अहमपि कृतार्थो भविष्यामि** इत्यादेः अयं भावः : एतादृग्भावात्मक-भगवद्भक्तसम्भाषणेन तद्धृदयस्थ-भावज्ञानेन तदभिलाषेण तत्सजातीयभावोदयाद् अहमपि कृतार्थो येन तादृशो भविष्यामि इति भावः ॥२९॥

युवाम् इत्यस्य विवरणे **स्वतन्त्रभक्त्यपेक्षया** इति. नवधा भक्तिः स्वतन्त्रा उच्यते यतः तत्करणेन भगवान् प्रसन्नो भूत्वा स्वीयत्वं मनुते. अस्याः प्रमेयत्वन्तु भगवान् स्वेच्छया स्वयं तद्वशे भवति. तेन अस्याः रसालत्वम् इति भावः. **नारायणे अखिलगुरौ** इत्यत्र **'नारायण' शब्दो अत्र पुरुषोत्तमवाची** इति. **अत्र** व्रजीयभगवत्स्वरूपनि-रूपण-प्रस्तावे इति अर्थः. अन्यथा देवोत्तमतातु श्रीनन्दज्ञातैवेति पुनः कथनम् अननुरूपं स्यात्. तथाच अयम् अर्थो : नारं = जीवसमूहः तस्य अयनो = मूलभूतः. तेन अत्रत्यानां जीवादीनां पुरुषोत्तमात्मकत्वमेव इति भावः. अतएव उक्तं श्रीवराहेण "**अन्यैव काचित् सा सृष्टिः विधातुः व्यतिरेकिणी**" (स्कन्दपुरा.१।४।२५।२५) इत्यादि. **अखिलगुरौ** इत्यस्य विवरणे **अतः** इत्यादि. **सर्वशास्त्राणाम् अर्थरूपे** पुरुषोत्तमे **प्रमेयबलवति** भक्तिमार्गीय-पुत्रत्वादिभावयुक्ते **यस्मात् कारणाद्** भगवदिच्छानुरूपाद् **एतादृशी** बुद्धिः भक्तिरूपा **कृता** इति भावः. भगवदिच्छा च एतादृग्भक्तिप्रकटनएव स्थिता, अन्यथा स्वस्मिन् पुत्रत्वादिधर्मान् न ज्ञापयेत्. भक्तानाञ्च भगवज्ज्ञापित-भजनकरणएव उत्तमत्वम् इति भावः ॥३०॥

एतौ हि इत्यत्र. **एकएव** इत्यादि. सदानन्दत्वेन भगवानेव ज्ञातो, नतु रमणकारणरूपः संकर्षणोऽपि ज्ञातः, तदभावे च न पूर्णता. अतः तं पुरुषोत्तमावेशिनं रमणकारणात्मकं ज्ञापयितुम् इति अर्थः. भगवत्तुल्यता च सम्बन्धे दूरीकार्या, यतः तत्र आवेशानन्तरभावि-लीलयैव निरोधः सिद्ध्यति, न अन्यथा. अतएव तामसप्रकरणस्थ-द्वादशाध्याये भगवल्लीलौपयिकवृक्षाणां केवल-भगवदनाविष्ट-बलदेवनमस्कारे बाधकम् उक्तम्. **बीजयोनी** इत्यस्य विवरणे **अत्र भगवानेव** इत्यादि. **अत्र** लीलासृष्टौ **तद्अर्थैकप्रयोजनाय** लीलाकरणार्थम् अलौकिकरसभोगार्थं **तथा** बलदेवादि-सर्वसामग्रीरूपो **जातः** इति अर्थः. **ब्रह्मवादेतु** भक्तिमार्गीयसृष्टि-सिद्धान्ते **तदेव** लीलात्मकं ब्रह्म **सर्वशक्तियुतं** गोपीजनवेष्टितं **क्रमेणैव** अधिकारं सम्पाद्य रसदानक्रमेणैव (**अभिव्यक्तो!**) प्रकटो **भविष्यामि** इति विचार्य **प्रथमसृष्टौ** रसात्मक-रमणेच्छारूपायां "**स एकाकी न रमते, स द्वितीयम् ऐच्छद्**" (बृह.उप.१।४।३) इत्यादि श्रुत्युक्तायां **तादृशभक्तसमूहम् उत्पाद्य क्षयवृद्ध्यनपेक्षं** कालातीतं विकल्पेन **तादृशं** लौकिकादिरसभोगार्थं कालादिधर्मयुक्तं "**जहुर् गुणमयं देहम्**" (भाग.पुरा.१०।२९।११) इत्यादिरूपं **पश्चाद् लोके** तदतिरिक्तं **बहूपकारसिद्ध्यर्थं** केषाञ्चिद् भाग्यवतां स्वप्राप्त्यर्थम् **एकैकस्य** स्वामिनीरूपस्य जीवरूपस्य वा **बहुधा उपयोगाय** बहुधा रमणार्थं स्वस्य इति शेषः. **शक्तिसमूहं** व्रजदेवीनां समूहं सात्त्विकादिभावेन **विभज्य बीजयोन्यादिभावेन** स्वस्वरूपात्मकान्यपि **परिकल्प्य स्थापितवान्** इति भावः. **उभयथा** लीलात्मकप्रकारेण भक्तिमार्गीयभक्त-विचारितमार्गप्रकारेण **पश्चाद्** भगवद्रमणेच्छानन्तरं **प्रकारद्वयं** स्वरसभोगार्थ-प्रकारो जीवरसदानप्रकारश्च एतद् द्वयम् इति भावः. **अनुभवसिद्धत्वाद्** भक्तानाम् इति शेषः. **तथा अत्रापि** लौकिकसृष्टौ **मोक्षसृष्ट्यादि-चतुर्विधपुरुषार्थान्** धर्मादिरूपान् **साधयितुं सर्वस्यापि** जीवसमूहस्य **सर्वं** मोक्षादिचतुष्कं भक्तिफलं वा **मा भवतु इति स्वशक्तिं** स्वामिनीरूपां

विभज्य भिन्नां स्वरमणस्थले वृन्दावने स्थापयित्वा. **मोक्ष-भक्त्योः स्वयं बीजं योनिश्च रामः** मोक्षो भगवद्दत्तएव भवति, तत्साधनरूपं ज्ञानं च वेदात्मक-बलदेवेन भवति, तेन उभयोः तथात्वम्. भक्तौ च स्वयं बीजं रसार्थकस्वरूपसम्पादके रमणार्थस्वरूपसम्पादके, रमणार्थक-भावोत्पादकश्च रामः इति भावः. **सृष्ट्यादौ** लीलासृष्टौ स्वयं योनिः = कात्यायन्यात्मकस्वरूपः इति अर्थः. रामश्च तादृग्-रमणात्मभावोत्पादक-बीजरूपः, कौशलेन्द्रवत्. अतः कारणाद् **उभावपि** पुरुषोत्तमावेशिनौ सर्वलोकहितार्थं **सर्वलोकानां हितार्थं** मुक्ति-भक्तिरसदानार्थम् **अवतीर्णौ**. यतः उभावपि भक्तिरसदानार्थम् अवतीर्णौ **अतः एकस्यैव हितार्थत्वेन ग्रहणे** कृते **कोऽपि पुरुषार्थो** भक्तिरसात्मको **न सिद्ध्येत्**. यतः संकर्षणः तामसो रमणात्मकः ततः तामसगुणं विना विप्रयोगरसाभावे पूर्णरससिद्धिः न भवेद् इति भावः. **अतएव सर्वत्र** भक्तिमार्गे **अभ्युदयफलेषु** रसमार्गीय-रसात्मकभावोदयेषु **रामस्य प्राधान्यं,** रमणसामग्रीसम्पादकत्वात्. अतएव तामसप्रकरणस्थ-द्वादशाध्याये भगवद्रमणार्थं वृन्दावनीय-वृक्षादीनां स्वरमणसिद्ध्यर्थं भगवता बलदेवनम-स्कारएव उक्तः. **भगवतः सहभावमात्रं** स्वावेशसिद्ध्यर्थम् इति भावः. **क्वचित्** लौकिके **रामस्य प्राधान्यं** न भगवतः सहभावत्वम् इति भावः. **प्रथमनिर्देशेन** स्वरमणेच्छारूप-शक्तिसृष्टिप्राकट्येन **साक्षाद् महती शक्तिः** कात्यायनीरूपा भद्रकालीरूपा च **कृष्णएव इति** कृष्णरूपैव इति **न क्वापि सहभावो निरूपितः** रामस्य इति शेषः. **निःश्रेयसे तु रामस्य** भगवतः **सहभावः** इति भावः. **साधारण्ये द्वयोः** यत्र **तुल्यतया निरूपणं** तत्र **सर्वत्रैव विमर्शो** विचारः कर्तव्यः आवेशादिभावेन इति अर्थः ॥३१॥

यस्मिन् इत्यस्य निरूपणे **मानसे रूपे** इति उक्तम्. रूपं मानसरूपम् इत्यस्य अयं भावो : मनसो दोषाधिक्येन यत्र कुत्रचित्

तादात्म्यस्फूर्तिः भवति तथा भगवद्रूपस्य कृपया आविर्भूतिरपि ब्रह्मप्राप्तिः भवति इति भावः. अतएव अग्रेऽपि उद्धवावस्थानत्याद्युक्तम् आचार्यैः **"सात्त्वतां पतिः"** (भाग.पुरा.१०।४३।३४) इत्यत्र. **निर्हृत्य कर्माशयम्** इत्यस्य विवरणे **बीजात्मकम्** इत्यारभ्य **स्वरूपेणैव याति** इत्यन्तम्. अस्य जीवस्य पुष्टिमार्गीयत्वात् केनचिद् अपराधेन मर्यादामार्गीयभक्त-देहजबीजजसंघातप्राप्तौ सति तन्निवर्तनेन तत्र पूर्वं स्वदेहाभिमानस्थित्या तत्परित्यागपूर्वकं **मृतमिव** तद् भवति. देहानामपि नित्यत्वाद् **इव** इति उक्तम्. ज्वलन्तो अग्निः यथा मृतकं प्रज्वाल्य स्वस्वरूपात्मकएव स्वयं भवति तथा अपराध**कारणभूतमपि संघातं** तदनुपभोगेनैव **दग्ध्वा उत्तरत्र गमने** साक्षात्स्वरूपसम्बन्धे **साधनान्तरं** पुनर्भावात्मकस्वरूप-भजनरूपम् **अपि अनपेक्ष्य** सर्वोत्कृष्टां **गतिं स्वरूपेणैव** गच्छति इति भावः. तद्योग्यत्वेन इति शेषः, अन्यथा पूर्वसंघाततत्यागपूर्वकान्यस्वरूपकथनं प्राप्तौ न उक्तं स्यात्. **परां गतिम्** इत्यस्य विवरणे **तत्रापि** इत्यादि. **सायुज्यार्थं** यथा जीवभावेन गमनानन्तरं तत्र तद्भावनाशपूर्वकं सायुज्यं भवति तथा न भविष्यति **किन्तु ब्रह्ममयः** भगवद्रमणयोग्य-भगवदात्मक-भगवद्भावरूपो भूत्वा भक्तिमार्गानुसारेण प्राप्नोति इति अर्थः. अयमेव अर्थः **तत्रापि भगवद्धर्माणामपि सर्वेषां स्फूर्तिः भवति इति अर्कवर्णः** इत्यस्य आभासेन निरूपितम्. **अर्कवर्णः** इत्यस्य अर्थनिरूपणे **तस्माद्** इत्यारभ्य **माहात्म्यम् उक्तम्** इत्यन्तम्. **यावान् पुरुषार्थः** तापात्मकत्वम् इति यावत् स **क्रमेण** यावद् **ज्ञानादिभिः** भगवत्स्वरूपात्मकादिभिः एकोनविंशाध्यायोक्त-गोपालाधिकरणरूपैः **भवति** तावत् तस्मिन् समये भगवत्स्वरूपावेशेन तत्संगाभिलाषया अस्मिन् जन्मनि पूर्वं तदभावजतापेन तथा भूत्वा प्राप्नोति इति भावः. अयमेव तापो अर्कवर्णकथनेन निरूपितो गोप्यत्वात् स्पष्टतया न उक्तः ॥३२॥

अखिलात्महेतौ इत्यस्य विवृतौ **अखिलानाम्** इत्यारभ्य **सिद्ध्यति**

इत्यन्तम्. सर्वेषाम् आत्मा भवति तेन सर्वेषां हितकर्तृत्वं स्वतएव सिद्धम्. **सर्वम् अस्य अन्नं भवति** इति सर्वेषां भोक्ता इति अर्थः. स्वभोगार्थमेव सर्वं सृष्टवान्. "**क्रीडाभाण्डम् विश्वम् इदम्**" (भाग.पुरा.४।७।४३) इत्यादि अतएव निरूपितम्. तेन स्वभोगार्थम् अस्मान् सृष्टवान् इति ज्ञात्वा यैः मनो निहितं तेषां न किञ्चिद् अवशिष्यते इति भावः. **नारायणे** इत्यस्य आभासे **विकृतेऽपि हेतुः** इत्यादि. ननु भगवानेव हेतुः, सएव च सर्वेषाम् आत्मा तदा विकृतप्रतीतौ को हेतुः इति आशंक्य आहुः **नारायणे** इति. **अयं पुरुषो नारायणः** अयमेव पुरुषः पुरुषोत्तमः स्वयं पुरुषरूपएव भोगार्थं नारायणः = नराणाम् अयनरूपः = स्वक्रीडार्थमेव नरसमूहकर्ता इति अर्थो यथा रासे. अत्र पुल्लिंगनिर्देशस्तु पुंजीवाभिप्रायेण. **कारणमर्त्यमूर्तौ** इत्यत्र **किञ्च** इत्यादि. **उद्धारार्थं** साक्षात्सम्बन्धार्थं मर्यादामार्गीय-मुक्तिमन्त्रोद्धारार्थं पञ्चविंशाध्या-योक्त-न्यायेन **कपटवेशं** तद्रसदानार्थं तदनुकूल-तज्जातीय-स्वस्वरूपप्राकट्यं **कृतवान्** "**बर्हापीड...**"(भाग.पुरा.१०।१८।१)इति श्लोकोक्तन्यायेन. अन्यथा अस्य ऐश्वर्यसहित-स्वरूपरसदानेन भक्तेषु रसोत्पत्तिः न स्यात्. तथाच स्वस्मिन् तत्स्वरूपानुकूल-जीवात्मशरीरादिभावप्राकट्येन फलप्रकरणीय-प्रथमाध्यायोक्त-पञ्चात्मकस्वरूपनिरूपक- "**यथा इन्द्रियादिरूपत्वम्**" (श्रीप्रभुचरणकृत-स्वतन्त्रका.१०।२६।१।१०) इत्यादिश्लोकोक्तन्यायेन प्राकट्यकरणाद् जीवेषु **फलावश्यकत्वं द्योतितम्** इति भावः. स्वस्यापि तद्भोगजनितरसा-वाप्त्यर्थम् इति भावः. **महात्मन्** इत्यस्य आभासे **पुष्टौ वा वैकुण्ठेषु** इति. **वैकुण्ठेषु** रमणस्थलेषु **पक्ष्यादिरूपत्वं** स्वक्वणितेन रसोद्बोधः. तन्न्यायेन तस्य परम्परया रसोपयोगित्वं, नतु साक्षात् भवत्सु तु साक्षाद्योग्यता इति. **महात्मन्** इत्यस्य विवृतौ **अनेन** इत्यादि. इयमेव अवस्था उद्धवस्य भगवद्दर्शनात्. तत्र पितृचरणानां मातृचरणानां च नित्यस्वानुभूत-भगवत्स्थित्यैव सुखितत्वाद् उद्धवोक्तज्ञानाप्रयोजकत्वं, तेन

एतदवस्थायाएव पुरुषार्थत्वम् इति भावः. उद्धवस्तु तत्र नित्यस्थित्यज्ञानाद् भावरूपत्वमेव मन्यते इति तत्समयस्य अवस्थात्वकथनम् इति भावः ॥३३॥

सात्त्वतां पतिः इत्यत्र. **यादवानाम्** इत्यारभ्य **तथा समागमिष्यति** इत्यादेः अयं भावो : यादवानां पतित्वात् तत्र स्थित्वा रक्षणम् आवश्यकं, भगवद्भक्तानां च अत्रत्यानां पतिः भर्ता तेन अत्र आगमनमपि आवश्यकम्. तस्मादपि अनुरोधात् तत्र येन स्वरूपेण स्थितिः उचिता तेन तत्र स्थित्वा तान् अज्ञाप्य पुरुषोत्तमस्वरूपेण **मार्गानुरोधाद्** यत्किञ्चिद् विप्रयोगानुभवं विना रसानुभवाभावात् **तथा** गुप्ततया **आगमिष्यति** इति भावः. यद्वा **भक्तानां** व्रजवधूनां **पतिः** तस्मात् तन्मार्गानुरोधाद् गुप्ततयैव आगमिष्यति इति भावः. अयमेव अर्थो अस्मत्प्रभुचरणैः **आगमिष्यति** इत्यस्य विवरणे **नन्दं द्रष्टुं समागतएव भगवान् परं यथा न गोपिकाप्रतीतिः** इत्यनेन उद्दीपितः ॥३४॥

कृष्णः इत्यस्य विवरणे **फलरूपः सर्वनिरपेक्षः** इति, फलरूपत्वात् तदपेक्षा सर्वेषां भवति, नतु तस्य कापि अपेक्षा यतः स्वयमेव सर्वफलरूपः. तथाभूतोऽपि यद् भवत्सु स्वस्य आकांक्षित्वं प्रकटीकृत्य भवतः प्रति निकटे आगत्य तदा यद् आह तत् सत्यमेव करोति, अन्यथा तदकरणे किमर्थम् एतावत्कथनम्? तत्सुखार्थम् अन्यथा उक्तम् इति चेत्, न, सर्वनिरपेक्षस्य तत्सुखे प्रयोजनाभावात्. अयमेव अर्थो अस्मदाचार्यैः **अनेन हेतुवादे प्रयोजनाभावः** इत्यनेन निर्णीतः. **सत्यं करोति** इत्यस्य विवरणे **वर्तमानप्रयोगेण** इत्यादि. एतादृग्भक्तदर्शनेन उद्धवस्यापि मनो खिन्नमिव जातं यद् एतादृग्भक्तार्तिं भगवान् कथं सहते इति. तदा भगवता स्वदर्शनं कारितं, तेन तथा इति भावः. उद्धवेनतु मथुरातो भगवदागमनमेव ज्ञायते, नतु व्रजनित्यस्थितिः इति आगमनकथनम् इति भावः. ननु तदज्ञाने कथं दर्शनम् इति चेद्,

उच्यते प्रमाणाद्यनुक्तं श्रीमन्नन्दादिप्रमेयभक्तिदर्शनेन एतादृगार्तावपि भगवदनागमनज्ञानोदित-स्वभक्त्याधिक्य-निराकरणार्थम् एतदाधिक्यज्ञानार्थं च तथा इति भावः. अतएव एतदाधिक्यज्ञानानन्तरं वदिष्यति "**एताः परं तनुभृतः**" (भाग.पुरा.१०।४४।५९) इत्येतस्मिन् पद्ये "**वाञ्छन्ति यद् भवभियो मुनयो वयं च**"इति. अनेन सर्वेषां स्वस्य च तदाकांक्षित्वम् इति भावः ॥३५॥

मा खिद्यतम् इत्यस्य आभासे **ननु यथा इदानीम्** इत्यादिकथनस्य अयम् आशयः : श्रीनन्दबुद्ध्या श्रीमदुद्धवानां दर्शनं न भवति इति तथोक्तम् इति भावः ॥३६॥

यथा भ्रमरिका इति विवरणे **यथावा** इत्यारभ्य **इति अर्थः** इत्यन्तम्. श्रीमदुद्धवस्य श्रीनन्दस्वास्थ्यदर्शनेन भक्तत्वान्यथाशंकमानस्य नाशो मा भूद् इति भगवता पितृचरणसन्निधौ स्वदर्शनं कारितम्. तत्स्वरूपं पितृचरणैः न ज्ञायते. भगवता प्रमेयबलेनैव एतद्रक्षणं क्रियते इति श्रीमदुद्धवैः तथा अगादि, आचार्यैरपि श्रीमदुद्धवहार्दम् अभिप्रेत्य समाहितम्. अयमेव अर्थः श्रीमदाचार्यैः **तदिच्छया क्वचिद् उपलभ्यते क्वचिद् न** इत्यनेन, तथाच **साक्षात्कारस्तु तदिच्छया भविष्यति** इत्यनेनापि निरूपितः ॥४१॥

गोप्यः समुत्थाय इत्यत्र. **नतु रात्रावेव निमित्तवशाद् उत्थानम्** इत्यादेः अयं भावः : उद्धवागमनज्ञानेन तथा इति भावः. यद्वा भगवान् तासां निकटे नास्ति इति निमित्तवशाद् दध्यादिनिमित्तवशाद् वा भगवद्रमणाज्ञानार्थम् अन्येषां वा इति भावः. **निरूप्य दीपान्** इत्यत्र **तासां सम्पत्तिः अधिका** इति, "**हरेर्निवासात्मगुणैः**" (भाग.पुरा.१०।५१-१८) एतत्प्रकारेण पूर्वं या निरूपिता सा अधिका इति भावः.

तेन भगवतो अत्र नित्यस्थितिः ज्ञापिता, अन्यथा तदभावे तद्ह्रासः स्यात्, नतु तदाधिक्यम्. तेन बाहुल्येन सा अधिका निरूपिता इति भावः. **दीपबहुवचनवाच्यार्थनिरूपणे भगवतः** इत्यादि. तेन भगवानपि एतासाम् उत्थानानन्तरम् उत्थाय अग्रे वनगमने प्रियाविप्रयोगज-क्लेशभरेण अमंगलता उभयत्रापि मा भवतु इति मंगलारात्रिकं कारयित्वा वनं गतः इति भावः. अनेनापि नित्यस्थितिरेव निरूपिता इति भावः. वास्त्वर्चनार्थनिरूपणे **भगवान् अत्र** इति. भगवद्विप्रयोगस्य अतितीक्ष्णत्वेन क्षणवियोगेऽपि तापाधिक्याद् भगवत्स्थितिस्थलपूजनं तापापनोदार्थं, प्रेमस्वरूपस्य तथात्वाद् इति भावः. **भक्त्या** प्रेम्णा इति भावः, अतएव "**स्नेहो भक्तिः**" (नार.पञ्च.) इति निरूप्यते. **भगवान् अत्र स्थितः** इति पूजनं व्रजवरवधूनां कुलधर्मएव. काश्चिद् **भक्त्या वा** सत्यादिगुणवत्यः पूजयन्ति इति भावः. **भगवान् अत्र** इति पदम् उभयत्र अर्थप्रकाशकत्वेन देहलीदीपभावम् अनुहरति. दधिमथनव्यञ्जितार्थ-निरूपणे **अनेन** इत्यारभ्य **आतिथ्यं निरूपितम्** इत्यन्तम्. **अनेन** दधिमन्थनेन तासां विप्रयोगाभावो ज्ञापितो, अन्यथा भगवद्विप्रयोगस्य अतितीक्ष्णत्वेन सर्वस्मृतिनिरासकत्वात् तदसम्भावना स्यात्, तेन तासां दुःखज्ञानेन उद्धवस्य खेदः स्याद्, यतः तदागमनं तत्सुखार्थम्. तस्यच प्रभुवियोगदुःखे अतिकठिनत्वात् संगमातिरेकेण तदसम्भवाद् दधिमथनेन भगवन्नित्यस्थित्या सुखचारित्र्यज्ञानाद् **आतिथ्यं निरूपितम्** इति भावः. यतः सुखार्थमेव आतिथ्यकरणं, तज्जननेन तत्कृतेः आतिथ्यम् इति भावः. अयमेव अर्थो अग्रिमश्लोकावतारिकायां **यद्यपि** इत्यादिना श्रीमदाचार्यैः व्यक्तीकृतः ॥४४॥

ताः दीपदीप्तैः इत्यत्र. **स्वरूपापेक्षया** इत्यादि. अत्र इदम् उद्भाति : भगवद्विप्रयोगे स्वरूपकान्तेः अभावाद् मणीनां सा अधिका दृश्यते. तस्याअपि आधिक्यं भगवत्कण्ठस्थित-मणिमालात्वात्. यथा

भगवान् गोचारणसमये तासां स्वरूपात्मिकां मणिमालां बिभर्ति तथा स्वविप्रयोगज-तापाधिक्यशान्त्यर्थं स्वमालां स्वरूपात्मिकां दत्वा गोचारणार्थं गच्छति. तद्वत् तद्धारणजनित-कान्त्याधिक्याद् भगवद्योग्यता इति भावः. तद्दाने भगवतः तदभिलाषो ज्ञाप्यते. अतएव भगवानपि तद्वियोगासहिष्णुः तत्स्वरूपात्मिकां मणिमालां स्वयमपि बिभर्ति इति श्रीमद्व्रजभाग्योदयभावाभिः द्वात्रिंशाध्याये "**मणिधरः क्वचिद् आगणयन् गा**" (भाग.पुरा.१०।३२।-१८) इत्यनेन पद्येन निरूपितम्. अत्रैव द्वितीयार्थनिरूपणे **भगवद्गुणगानयोग्यता वा** इत्यस्य अयं भावः : गुणगानस्य विप्रयोगे जीवनहेतुत्वाद् भगवदनाकांक्षायां तत्करणानुचितत्वात् तथाभूतप्रेमवतीनां तेन स्वमणिमालादानेन स्वाकांक्षा ज्ञाप्यते भगवता, तेन तद्गानयोग्यता इति भावः. कंकणानां स्रग्भावनिरूपणे **स्थूल**...इत्यादि. भगवद्विप्रयोगसमये दिवसे सौन्दर्यं सूक्ष्मेषु यथा तथा न स्थूलेषु इति स्वस्य अनागरीत्वज्ञापनार्थम् इति भावः. भगवद्वनगमनोद्यमक्षणएव तथा क्षामत्वं, तेन तासां प्रेमाधिक्यम् उत्तमत्वं च ज्ञापितम् इति भावः. अतएव केनचिद् रसज्ञेन उक्तं "**यामीत्युक्ते**..."इत्याद्येन "**भंगं समीयुः**"[१] इत्यन्तेन पद्येन तथात्वम् इति भावः ॥४५॥

उद्गायतीनाम् इत्यत्र. गानतात्पर्योक्तौ **कार्यं** इत्यारभ्य **लोकपरित्यागः** इत्यन्तम्. ऊर्ध्वगानोत्थध्वनिः **दिवं** क्रीडाभावं भगवत्क्रीडास्थलं वनम् अस्पृशद् इति कार्यं, विप्रयोगे भगवदाकांक्षाज्ञानाद् भगवदर्थकजीवनार्थं गुणगानं तत्कारणम् इति भावः. कूलवधूनां लज्जात्यागेन ऊर्ध्वगानं लोकविद्विष्टम्. एवं सत्यपि यद् गानं तत् कारणाधिक्यात्. भगवदर्थक-जीवनस्थापनार्थं लोकपरित्यागः कृतः इति भावः. अग्रे

---

[१]"यामीत्युक्ते हृदयपतिना पञ्चशः पञ्चभूषाः, स्वैरं-स्वैरं झटिति गलिता पाणिपंकेरुहाग्राद्, नो यास्यामीत्यनुपदमिदं वाक्यम् आकर्णयन्त्याः, शेषाः सर्वे चटचटचटेत्येव भंगं समीयुः" सुभा.रत्नभाण्डा. प्रियप्रस्थानावस्थाकथनं १४.

तथा सति इत्यादिकथनं लोकम् अपेक्ष्य इति भावः. गुणगानध्वनेः दिवस्पर्शनतात्पर्यनिरूपणे **भगवद्गुणाअपि** इत्यादि. दिविधातोः क्रीडावाचकत्वात् क्रीडाम् अस्पृशत्. अत्र अयं भावः : यत्र भगवान् वने क्रीडति तत्र प्राप्तः इति अर्थः. यद्वा दिवं = क्रीडाभावमेव अस्पृशत्, नतु विप्रयोगादिभावम् इति भावः. भगववद्गुणगानं तु सर्वैरेव क्रियते परम् एतासां मुखं प्राप्य यथा क्रीडादिरूपत्वं गुणानां जातं न तथा अन्यत्र इति अर्थः. अत्र अयं भावः : एताः भगवद्विप्रयोगसमये स्वकृतक्रीडादिरूपमेव गानं कुर्वन्ति, नतु अन्यगुणगानं, तेन तत्प्रकारकगुणगानं तु एतासां मुखेन इति भावः. अतएव एताः विप्रयोगे तथैव गायन्ति गोपिकागीतादिषु प्रेमामृते च "**सुरतवर्धनं**..."(भाग.पुरा. १०।२९।१४), "**कृष्ण कृष्णेन्दु**..." (प्रेमामृत २) इत्यादि च. एतदेव एतासां महत्त्वम्. ननु गुणास्तु भगवतएव, तासां किं महत्त्वम्? इति चेद्, उच्यते सत्यं, गुणास्तु भगवदीयाएव, परम् एतत्स्थानं विना न कुत्रापि भगवतापि प्रकटितेति तासां महत्त्वम् इति भावः. अतएव तासां महत्त्वज्ञानेन उद्धवोऽपि तत्पादरेणुयोग्यं जन्म स्याद् इत्यादिप्रार्थनां करिष्यति, अन्यथा भगवत्स्तुतस्य तस्य भगवद्दास्यं प्राप्तस्य कथं तत्प्रार्थनम् इति भावः ॥४६॥

सूर्यस्य भगवत्त्वोक्तिनिरूपणे **तद्दिनसूर्यः** इत्यारभ्य **परमपुरुषार्थदायी** इत्यन्तम्. तद्दिनएव गोपिकानाम् उद्धवदर्शनेन विप्रयोगस्फूर्त्या भगवत्स्मारकत्वात् तथा इति भावः. तत्स्मारकत्वेन भगवत्त्वकथनस्य अयं भावो : भगवानेव विप्रयोगानुभवार्थं सूर्ये तथात्वं प्रकटीकृतवान् इति अर्थः. उद्धवस्य च परमपुरुषार्थात्मकं व्रजवरवल्लभानां दर्शनं कारितवान् इति भावः, अतएव परमत्वम् इति भावः. एतद्दर्शनस्य पुरुषार्थरूपत्वम् अग्रे श्रीमदुद्धवैः स्वप्रार्थनया निरूपणीयम् अतएव ॥४७॥

व्रजस्त्रीव्रजगोपीश-विलासरसनित्यता ॥
यथामति विनिर्णीता तेन तुष्यतु मत्प्रभुः ॥१॥
श्रीवल्लभपदाम्भोज-मिलिन्दालकवृन्दकः ॥
प्रार्थयामि सदा मेऽस्तु त्वयि भावस्तथाविधः ॥२॥
श्रीविठ्ठलपदाम्भोज-मिलिन्दायितचेतसाम् ॥
कदा लुठिष्ये मुदिता सततं पादरेणुषु ॥३॥
यद्भावाद् गोपिकाधीशरतिः स्यात् प्रेमसंयुता ॥
व्रजस्त्रीपादरेणुस्सः सदा मह्यं प्रसीदतु ॥४॥
इति श्रीगोपिकाधीश-वल्लभाचार्यगुंफिता ॥
त्रिचत्वारिंशकाध्याय-विवृतिर्विवृता मया ॥५॥
उद्धवागमनोद्भूतो व्रजनित्यस्थितौ प्रभोः ॥
अनेनैव प्रकारेण छेत्तव्यः संशयो बुधैः ॥६॥
आतृणस्तम्बपर्यन्तं श्रुत्युक्ता व्रजनित्यता ॥
निर्णीताऽस्मत्प्राणनाथैर्निश्चिन्ताः स्मो वयं ततः ॥७॥
स्वरूपरसमाधुर्यैः शिशिरीकुरुतेऽनिशम् ॥
सव्रजो गोकुलाधीशो मामकं हृदयाम्बुजम् ॥८॥
श्रीवल्लभनन्दनः प्राणेशः प्रभुः सदा जीयात् ।

इति श्रीश्यामलात्मजश्रीव्रजराजकृता
भागवतदशमपूर्वार्धराजसप्रकरणान्तर्गत-त्रिचत्वारिंशाध्याय-
सुबोधिनीविवृतिः सम्पूर्णा

उद्धृतवचनानुक्रमणिका

अकारं ब्रह्माणं नाभौ	(नृ.उ.ता.उप.३)	६०
अक्षण्वतां फलम्	(भाग.पुरा.१०।१८।७)	८०
अक्षरात् परतः परः	(मुण्ड.उप.२।१।२)	६०
अग्निः देवानां अवमो विष्णुः	(ऐत.ब्रा.१।१)	५९
अग्निहोत्रं त्रयीतन्त्रं त्रिदण्डं	(नैषधीयचरित्रम् १७।३९)	५८
अचिरान् माम् अवाप्स्यथ	(भाग.पुरा.१०।४४।३७)	१४१
अज्ञः च अश्रद्धधानः च	(भग.गीता ४।४०)	४४
अतो अस्मि लोके वेदे च	(भग.गीता १५।१८)	६०
अथ एतत् परमं गुह्यम्	(भाग.पुरा.११।११।४९)	६४
अथ एतदपि अशक्तो असि	(भग.गीता १२।११)	२४
अनन्याः चिन्तयन्तो माम्	(भग.गीता ९।२२)	३१,७५
अनित्यम् असुखं लोकम् इमं	(भग.गीता ९।३३)	६२
अनुगुणपक्षस्तु सुगमः	(सुबो.१०।३७।२८)	४७
अन्ते या मतिः सा गतिः	(लौकि.न्या.सा.१६६)	४९
अन्यैव काचित् सा सृष्टिः	(स्कन्दपुरा.१।४।२५।२५)	७३,१४८
अपि चेत् सुदुराचारः	(भग.गीता ९।३०)	६१
अपि शृण्वन् सुभद्राणि	(भाग.पुरा.११।२।३९)	२४
अपृष्ट्वा यस्तु यां काञ्चित्	(विष्णुधर्मो.पुरा.१।५८।२४)	४३
अर्हाणां कर्तृत्व	(पाणि.सू.वा.२।३।३७)	५५
अव्यक्तलिंगं प्रकृतिषु अन्तःपुर	(भाग.पुरा.१०।६६।३६)	३४
अव्रताः वटवो अशौचाः	(भाग.पुरा.१२।३।३३)	५६
अष्टौ वसवः एकादश रुद्रा	(बृह.उप.३।९।२)	५९
असतां दुरापं तच्चापि अहं	(भाग.पुरा.१०।३७।२८)	४७
अस्मद्व्यतिरिक्तभावस्य न तत्र	(प्रेमामृतविव.३२)	१४१
अष्टोत्तरशतं कुर्यात्	(द्रष्ट.चतुः-चिन्ता.२।२१।वि.रह)	१३१

अहं भक्तपराधीनः	(भाग.पुरा.९।४।६३)	२६,७७
अहं वैश्वानरो भूत्वा	(भग.गीता १५।१४)	४
आक्वेः तच्छील-तद्धर्म-तत्साधु	(पाणि.सू.३।२।१३४)	६२
आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुः	(महाभा.१३।१४९।१३९)	५७
आत्मा यावत् प्रपन्नो अभूद्	(सुबो.१०।२६।०।का.९)	६८
आत्मानं भूषयाञ्चक्रुः	(भाग.पुरा.१०।५।९)	८५
आत्मारामोऽपि अरीरमद्	(भाग.पुरा.१०।२६।४२)	२६,१३८
आभासः च निरोधः च	(भाग.पुरा.२।१०।७)	४८
आयास्ये इति दौत्यकैः	(भाग.पुरा.१०।३६।३५)	१३४
आसक्तौ भगवानेव	(पु.प्र.म.१८)	१४
आषाढस्य सिते पक्षे द्वितीया	(स्कन्दपुरा.२।२।२९।३३)	१२८
इति गोगोकुलपतिं गोविन्दम्	(भाग.पुरा.१०।२४।२८)	७९
इति मां यः स्वधर्मेण भजन्	(भाग.पुरा.११।१८।४३)	७५
इदमेव इन्द्रियवतां फलं मोक्षो	(सुबो.१०।१८।का.१०)	८०
इन्द्रियैः विषयाकृष्टैः	(भाग.पुरा.४।२२।३०)	३८
उत त्वः पश्यन् न ददर्श	(ऋक्संहि.१०।७१।४)	५६
एके मुख्यान्यकेवलाः	(अम.कोश ३।३।१६)	५३
एतत्सन्दर्शनेतु स्यात् प्रमदाभाव	(ललि.त्रिभं.स्तो.४२)	७२
एतदन्तःस्थितः कृष्णएव अस्मान्	(त.दी.नि.प्रका.२।२३३)	३७
एतस्यैव आनन्दस्य अन्यानि	(बृह.उप.४।३।३२)	६२
एताः परं तनुभृतः	(भाग.पुरा.१०।४४।५९)	१५४
एवं सन्दर्शिता हि अंग	(भाग.पुरा.१०।९।१९)	२८
एष हि एव आनन्दयाति	(तैत्ति.उप.२।७)	६२
कर्मणां गहना रीतिः	(त.दी.नि.२।२६८)	२७
कलिं सभाजयन्ति आर्या	(भाग.पुरा.११।५।३६)	५२
कलेः दोषनिधेः राजन्	(भाग.पुरा.१२।३।५१)	५२
कावेरी च महापुण्या प्रतीचि	(भाग.पुरा.११।५।४०)	५४
काश्यादिपुर्यो यदि सन्ति लोके	(स्कन्दपुरा.२।५।१७।४४)	५२

किं करिष्यति किं वदिष्यति	(गीतगोवि.७)	१०
किं ब्रह्मजन्मभिः	(भाग.पुरा.१०।४४।५९)	८०
किञ्च अहं न भुवं यास्ये	(भाग.पुरा.९।९।५)	५४
किरातहूणान्ध्र	(भाग.पुरा.२।४।१८)	४६
'कृष' शब्दो हि सत्तार्थो	( )	५०
कृषिः उत्कृष्टवचनो	(ब्रह्मवैव.पुरा.४।११११३२)	४९
कृषिः भूवाचकः	(गो.पू.ता.उप.१।१)	१३,४९
'कृषि'शब्दः च सत्तार्थो	(गौतमीयतन्त्र २।६९)	४९
कृष्ण कृष्णेन्दु	(प्रेमामृत २)	१५७
कृष्ण-कृष्ण अप्रमेयात्मन्	(भाग.पुरा.१०।३७।२५)	२४
कृष्णसेवापरम्	(त.दी.नि.२।२२७)	९७
केदारे उदकं पीत्वा	(पद्मपुरा.६।३८।३८)	५७
को धर्मः सर्वधर्माणां भवतः	(महाभा.१३।२५४।३)	७३
क्रीडाभाण्डम् विश्वम् इदम्	(भाग.पुरा.४।७।४३)	९५,१५२
क्रीडार्थमात्मनः इदं त्रिजगत्	(भाग.पुरा.८।२२।२०)	९५
क्षणं युगशतमिव	(भाग.पुरा.१०।१६।१६)	१४१
गत्या ललितया उदार	(भाग.पुरा.१०।४४।५२)	३६
गोपभार्यवद्	(वि.धै.आ.६)	६४
गोपिकाः प्रोक्ताः गुरवः	(संन्या.निर्ण.८)	७९
गोपीनां मद्वियोगाधिम्	(भाग.पुरा.१०।४३।३)	१०
गोपीभिः स्तोभितो अनृत्यत्	(भाग.पुरा.१०।११।७)	२८
गोपीमनोरथाक्रान्तः	(प्रेमामृत ३२)	१४१
गोप्यः कामाद्	(भाग.पुरा.७।१।३०)	७९
चिन्ता कापि	(नवरत्न.१)	७६
चूतप्रवालबर्हस्तबको	(भाग.पुरा.१०।१८।८)	८१
चैत्रे मासे नवम्यान्तु जातो	(अग.संहि.१८।१)	१२१
जगन्नाथे विठ्ठले च	(त.दी.नि.२।२५५)	२२
जहुर् गुणमयं देहम्	(भाग.पुरा.१०।२६।११)	१४९

जामि वा एतद् यज्ञस्य	(तैत्ति.संहि.२।६।६।४)	६८
तत्सारभूतरासस्त्रीभाव...	(सर्वो.स्तो.१६)	६४
तत् तेषां न प्रियं	(द्रष्ट.बृह.उप.१।४।१०)	५४
तदाशया तथा चेद्	(विद्व.मंड.नित्यली.५०)	३
तदैव त्यक्ष्यन्ति	(सुबो.१०।२८।१)	३६
तद्दुरापत्वेऽपि तदाशया	(सुबो.१०।४४।६०)	७७
तद्द्वारा पुरुषे भवेद्	(सुबो.१०।२६।० का.२)	७
तन्नो निधेहि	(भाग.पुरा.१०।२६।४१)	८०
तप्तस्तनेषु च शिरस्सु च	(भाग.पुरा.१०।२६।४१)	८०
तमेव शरणं गच्छ	(भग.गीता १८।६२)	४०
तस्मात् त्वम् उद्धव	(भाग.पुरा.११।१२।१४)	३१,४५
तस्य अधमस्य अन्तिकम्	(अमरुशतकम् १०५)	६५
तस्यैव अहं ममैव	(भग.गीता गूढा.दी.१८।६६)	४०
ताः निराशाः निववृतुः	(भाग.पुरा.१०।३६।३७)	१३३
तादृशीं भावनां कुर्याद्	( )	७२
तीर्थादावपि या मुक्तिः	(त.दी.नि.१।४७)	५५
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि	(भाग.पुरा.१।१३।१०)	७४
ते मे युक्ततमाः मताः	(भग.गीता १२।२)	१३८
त्रैलोक्यलक्ष्म्येकपदं वपुः	(भाग.पुरा.१०।२९।१४)	६६
त्रैवर्गिकायासविघातम्	(भाग.पुरा.६।११।२३)	३३
त्वक्श्मश्रुरोम...	(भाग.पुरा.१०।५७।४५)	१३
त्वयि धृतासवः	(भाग.पुरा.१०।२८।१)	३६,१३९
दर्शयन् तद्विदां लोके	(भाग.पुरा.१०।११।९)	२८
दश वै पशुषु/पशोः	(तैत्ति.संहि.६।३।७।५)	४८
दुस्त्यजः तत्कथार्थः	(भाग.पुरा.१०।४४।१७)	३६,१४१
दृष्ट्वा कृष्णावेशात्म	(भाग.पुरा.१०।४४।५८)	१३६
देशान् पुण्यान् आश्रयेत	(भाग.पुरा.११।२९।१०)	५३
देहः किम् अन्नदातुः	(भाग.पुरा.१०।१०।११)	३५

दैवं दिष्टं भागधेयं	(अम.कोश १।४।२७)	१३,६६
दैवी सम्पद् विमोक्षाय	(भग.गीता १६।५)	३
द्वादश्यां श्रवणे वापि	(द्रष्ट.चतुः.- चिन्ता.२।२१। वि.रह)	१३१
द्विः स्थापयति न आश्रितान्	(हनुमन्नाटक १।४८)	१६
धर्माद् अनिच् केवलाद्	(पाणि.सू.५।४।१२४)	५१
धर्मेण पापम् अपनुदति	(महाना.२२)	७४
धारयन्ति अतिकृच्छ्रेण	(भाग.पुरा.१०।४३।६)	६७
ध्यायत विषयान् पुंसः	(भग.गीता २।६२)	३७
न अन्या भवेद् गतिः	(भाग.पुरा.१०।२०।३०)	४९
न अयम् आत्मा प्रवचनेन	(कठोप.१।२।२३)	५०
न नन्दसूनुः	(भाग.पुरा.१०।३६।२२)	६७
न मय्यावेशितधियां कामः	(भाग.पुरा.१०।१९।२६)	८१
नद्यः तदा	(भाग.पुरा.१०।१४।१८)	६६
नमो नमस्तेऽस्तु	(भाग.पुरा.२।४।१४)	१०
नय मां...	(भाग.पुरा.१०।२७।३७)	२७
नराणां क्षीणपापानां कृष्णे	(स्कन्दपुरा.५।१।६३।२७)	६१
नहि अम्मयानि तीर्थानि	(भाग.पुरा.१०।४५।३१)	५५
नहि कृष्णाद् अन्यः एवं	(सुबो.१०।२८।६)	१३
नामसम्बन्धतो भवेद्	(सेवाश्लो.१६)	४,५
नामानि अनन्तस्य	(भाग.पुरा.१।६।२७)	२४
निजनिसर्गप्रभु-श्रीगोकुलनाथ...	(विद्व.मण्ड.जीवाणुत्व.२८)	७१
निमित्तात् कर्मयोगे	(पाणि.सू.वा.२।३।३६)	४०
न्यस्तं स्तनेषु विजहु	(भाग.पुरा.१०।४४।६३)	६
न्यूनं सम्पूर्णतां याति	(नार.पुरा.१।१७।१०८)	७४
पतिसुतादिभिः आर्तिदैः	(भाग.पुरा.१०।२६।३३)	८०
परास्य शक्तिः विविधैव	(श्वेता.उप.६।८)	६२
परिहाय्यापि वेदान् त्रीन्	(द्र.अद्वै.मंज.शिव.त.वि.५५)	५६

पवित्रारोपणं विघ्नात् श्रावणे	(रामा.च.श्रा.कृ)	१३१
पशुपराजसुदुर्ललित सुतः	(विज्ञ.सखीभाव.५७)	९
पापकर्षणो	(गो.पू.ता.उप.१।१)	४९
पिता अहम् अस्य जगतो	(भग.गीता ९।१७)	६४
पित्रोः.. प्रियचिकीर्षया	(भाग.पुरा.१०।४४।४)	१३४
पुंसामपि युवतीभावम्	(शृंगा.मण्ड.१०।१९)	७२
पुरा देवै ऋषिगणै स्वपद	(स्कन्दपुरा)	५८
पूर्णाः पुलिन्द्यः	(भाग.पुरा.१०।१८।१७)	९०
पूर्वात् परबलीयस्त्व...	(जैमि.सू.६।५।५४)	१५
पृथक्शरणमार्गोपदेष्टा	(सर्वो.स्तो.२५)	२३
प्रतिकूले गृहं त्यजेद्	(त.दी.नि.२।२३१)	३५
प्रतियात ततो गृहान्	(भाग.पुरा.१०।२६।२७)	३
प्रत्यागमनसन्देशै	(भाग.पुरा.१०।४३।६)	१३७
प्रपन्नभयनिवारकत्वं तव	(सुबो.१०।६७।२५)	२४
प्रसंगम् अजरं पाशम् आत्मनः	(भाग.पुरा.३।२५।२०)	५५
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिः	(भाग.पुरा.७।७।५२)	७४
फालगुन्यां क्रीडनं कुर्याद्	(स्कन्दपुरा.२।२।२९।४७)	१२०
बर्हापीडं	(भाग.पुरा.१०।१८।१)	१५२
भक्त्या अहम् एकया ग्राह्यः	(भाग.पुरा.११।१४।२१)	७४
भक्त्या तुतोष भगवान्	(भाग.पुरा.७।९।९)	७४
भक्त्या सञ्जातया भक्त्या	(भाग.पुरा.११।३।३१)	७४
भक्त्यातु अनन्यया ग्राह्यः	(भग.गीता ११।५४)	७५
भक्त्यादिमार्गाः	(वि.धै.आ.१७)	६३
भगवतो अतिदुरापत्वेऽपि	(सुबो.१०।४४।६०)	३
भगवदुपदिष्ट गोपतुल्याद्	(द्रष्ट.भाग.पुरा.१०।१२।५)	९६
भजत मा अखिलसंशयाधिम्	(भाग.पुरा.११।१३।३३)	३१
भण मसृणवाणि करवाणि	(गीतगोवि.१९।७)	१४२
भवतींनां वियोगो मे	(भाग.पुरा.१०।४४।२९)	९३

भवद्भिः अमृतं प्राप्तं	(भाग.पुरा.८।११।४४)	४९
भवाम दास्यः	(भाग.पुरा.१०।२६।३९)	८२
भाषणं मा त्यज	(सेवाश्लो.१५)	५
भीषा अस्माद्	(तैत्ति.उप.२।८)	३४
भूमिनिन्दाप्रशंसासु	(पाणि.सू.सि.कौ.५।२।९४)	३६
मणिधरः क्वचिद् आगणयन्	(भाग.पुरा.१०।३२।१८)	८८,१५६
मदन्यत् ते न जानन्ति न	(भाग.पुरा.९।४।६८)	३४
मद्भयाद् वाति वातो अयम्	(भाग.पुरा.३।२५।४२)	३३
मनो हि द्विविधं प्रोक्तं	(ब्रह्मबिन्दु.उप.१)	४२
मनोरथान्तं श्रुतयो यथा	(भाग.पुरा.१०।२९।१३)	२७
मन्त्रस्य च परिज्ञानम्	(भाग.पुरा.११।२१।१५)	५६
मन्नाथं मत्परिग्रहम्	(भाग.पुरा.१०।२२।१८)	७३
मया परोक्षं भजता	(भाग.पुरा.१०।२९।२१)	१६
मयि ते तेषु चापि	(भग.गीता ९।२९)	२६
मय्यावेश्य मनः	(भग.गीता १२।)	१३८
मय्येव सति जीवन्ति	(सुबो.१०।४३।४)	१४०
मां प्रपन्नो अजनः कश्चित्	(भाग.पुरा.१०।४८।४३)	१६
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य	(भग.गीता ९।३२)	३९,४६,६१
मामेव नैरपेक्ष्येण भक्तियोगेन	(भाग.पुरा.११।२७।५२)	७५
माम् अवाप्स्यथ	(भाग.पुरा.१०।४४।३७)	१३९
माम् आश्रित्य यतन्ति	(भग.गीता ७।२९)	३९
माम् एकं शरणं व्रज	(भग.गीता १८।६६)	४०
मायया	(भग.गीता १८।६०)	१९
मायान्तु प्रकृतिं विद्याद्	(श्वेता.उप.४।१०)	६०
मारणे वारणे वापि	(विज्ञ.१।२६)	८२
माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः	(नार.पञ्च)	१४७
मृग अन्वेषणे	(पाणि.धा.पा.चुरादि.१९२४)	५१
मृजूष् शुद्धौ	(पाणि.धा.पा.अदादि.१०९१)	५१

मैवं विभो अर्हति	(भाग.पुरा.१०।२६।३१)	७९
यः आविरासीद् घोरे	(श्रीरघुनाथकृ.कृष्णा.वि.मं)	४८
यः एनं शुष्के स्थाणौ	(बृह.उप.६।३।९)	५७
यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः/सर्वविद्	(मुण्ड.उप।१।१।९)	२८
यजमानपञ्चमा इडां	(शाब.भा.६।४।४)	४८
यतो वाचो निवर्तन्ते	(तैत्ति.उप.२।४)	५०,६०
यत्त्वहम्	(भाग.पुरा.१०।४४।३५)	१४१
यत् तत्र गुरुणा प्रोक्तं	(भाग.पुरा.७।५।३)	६३
यथा इन्द्रि...	(श्रीप्रभु.का.१०।२६।१।१०)	१५२
यथा कण्टकविद्धांगः	(भाग.पुरा.१०।१०।१४)	१३६
यथा वयं तदीयाः स्मः	(प्रभुचरणपत्राणि १०।३)	२८
यमेव एषः वृणुते तेन लभ्यः	(कठोप.१।२।२३)	५०
यस्मिन् महानुग्रहः तस्मिन्	(रससर्वस्व.६९)	७७
यस्य च भावेन भावलक्षणम्	(पाणि.सू.२।३।३७)	५१
यस्य स्याद् अद्धा न	(छान्दो.उप.३।१४।४)	४४
या-या साधनसम्पत्तिः पुरुषार्थ	( )	४८
यावद् अन्याश्रयः तावद्	( )	४३
यावद् जीवेत् सुखं जीवेद्	(सर्व.दर्श.चार्वाक)	५८
ये त्यक्तलोकधर्माः च मदर्थे	(भाग.पुरा.१०।४३।४)	३३,७८
ये यथा मां प्रपद्यन्ते	(भग.गीता ४।११)	१६,७४, ७७
येनैव पूर्णानन्दः इतीर्यते	(सुबो.१०।३२।०।का.१)	९०
यो अन्यथा सन्तम् आत्मानम्	(महाभा.५।४२।३५)	३
यो वै भूमा तत् सुखं न	(छान्दो.उप ७।२३।१)	५०
योगाः त्रयो मया	(भाग.पुरा.११।२०।६)	४६,५१, ६४
राजा मित्रं केन दृष्टं श्रुतं	(पञ्चतन्त्र १।१५८)	१३४
रुरुदुः सुस्वरं राजन्	(भाग.पुरा.१०।२९।१)	६५

रूपं यत् तत् प्राहुः अव्यक्तम्	(भाग.पुरा.१०।२७।२४)	५०
लक्ष्मीसहस्रलीलाभि सेव्यमानम्	(सुबो.१०।१।०।का.१)	८
वर्धते सा व्रजे राधा शुक्ले	(ब्रह्मवै.पुरा.४।१३।९७)	६४
वस्तुतः कृष्णएव	(वल्लभाष्ट.८)	६४
वादवादान् त्यजेत् तर्कान्	(भाग.पुरा.७।१३।७)	५२
विधिहीनं भावदुष्टं कृतम्	(याज्ञ.स्मृ.परि.१०९)	७४
विना मत्सेवनं जनाः	(भाग.पुरा.३।२९।१३)	८२
विनैव समयक्रमं सखि तदा	(रससर्वस्व.२२०-२२१)	७६
विप्रस्य वै संन्यसतो देवाः	(भाग.पुरा.११।१८।१४)	५४
विमुञ्च आत्मतनुं घोराम्	(भाग.पुरा.३।२०।२८)	६९
विश्वस्य यः स्थितिलयोद्भवहेतुर्	(भाग.पुरा.३।१६।३६)	२६
विससर्ज तनुं तां वै ज्योत्स्नां	(भाग.पुरा.३।२०।३९)	७०
वीर योषिताम्	(भाग.पुरा.१०।२८।६)	१३
वेश्यावेश्मसु सीधुगन्धिललना	(प्रबो.चन्द्रो.२।१)	५८
वैश्वानराद् वाक्पतेः	(सुबो.१।१।०।का.५)	६४
व्यावृत्तोऽपि हरौ चित्तं	(भ.व.३)	९३
व्रजभयार्तिहन् वीर योषिताम्	(भाग.पुरा.१०।२८।६)	१४३
शरणं रक्षणे गेहे वधरक्षकयोरपि	(अनेकार्थकोश ३।२४१)	३९
शास्त्रदृष्टच्यातु उपदेशो	(ब्र.सू.१।१।२९)	१३७
शुक्रेण मोहिता विप्रा दैन्यानां	(पद्मपुरा)	५८
श्यामात् शबलम्	(छान्दो.उप.८।१३।१)	३९
श्रावणस्य सिते पक्षे कर्कटस्थे	(द्रष्ट.चतुः.चिन्ता.२।२१।वि.रह)	१३१
श्रीनिकेतैः तत्पदकैः विस्मर्तुं	(सुबो.१०।४४।५१)	६६
श्रीभागवतप्रतिपद...	(सर्वो.स्तो.२)	६४
षष्ठी च अनादरे	(पाणि.सू.२।३।३८)	५१
स उत्तमः पुरुषः	(छान्दो.उप.४।१२।३)	६०
स एकाकी न रमते	(बृह.उप.१।४।३)	१४९
स एको ब्रह्मणः आनन्दः	(तैत्ति.उप.२।८)	६०

स एको मानुषः आनन्दः	(तैत्ति.उप.२।८)	६०
स विष्णवाख्यो अधियज्ञो	(भाग.पुरा.३।२९।३८)	६९
सकृदेव प्रपन्नो यः तवास्मि	(गरु.पुरा.१।१२७।११)	६१
सकृदेव प्रपन्नो यः तवास्मि	(रामा.६।१८।३३)	६२
सन्त्यज्य सर्वविषयान्	(भाग.पुरा.१०।२६।३१)	७२,७८, ८०,९१
सतां प्रसंगात्	(भाग.पुरा.३।२५।२५)	५५
सत्संगेन हि दैतेयाः	(भाग.पुरा.११।१२।३)	५५
सत्सेवारुचिः भगवत्स्वरूप	(सुबो.१०।३७।२८)	४७
सद्यः पुनाति गांगेयं दर्शनादेव	(कूर्मपुरा.२।४०।८)	५४
सन्तः एतस्य छिन्दन्ति	(भाग.पुरा.११।२६।२६)	५५
सभगवान् अथ विष्णुरातम्	(भाग.पुरा.१०।१।१४)	८८
सम्बन्धिदानात् सत्तैव	(वा.प.३।१।३४)	५०
सर्वं सहेत परुषं सर्वेषां	(त.दी.नि.२।२३३)	३७
सर्वत्र तासु सा भगवदाज्ञया	(सुबो.१०।३०।१७)	७८
सर्वधर्मान् परित्यज्य	(भग.गीता १८।६६)	२४,३१, ३८,४५
सर्वस्य वशी सर्वस्य ईशान	(बृह.उप.४।४।२२)	२८
सर्वात्मभावेन चेत् तथा भजनं	(विद्वन्मण्डन.५०)	७७
सर्वेश्वरं द्वादशान्तः	(नृ.उ.ता.उप.३)	६०
सर्वेषु वर्णेषु तथा आश्रमेषु	(नार.पुरा.३।१।१३)	५६
सा काष्ठा सा परा गतिः	(कठोप.१।३।११)	४९
साधवो न्यासिनः शान्ताः	(भाग.पुरा.९।९।६)	५४
सितासिते सरिते	(ऋक्संहि.खि.खि.सू.५।१)	६६
सिद्धाखिलार्थाः मधुसूदनाश्रयाः	(भाग.पुरा.१०।५८।४०)	४९
सुखाय कर्माणि करोति	(भाग.पुरा.३।५।२)	२७
सुदुःसहम् इमं मन्ये आत्मनि	(भाग.पुरा.११।२२।६०)	३७
सुरतवर्धनं	(भाग.पुरा.१०।२९।१४)	१५७

सो अयं वसन्तसमयो विपिनं	(रूपगो.पद्या.३२३)	६६
सोऽहं तव अंघ्र्युपगतो	(भाग.पुरा.१०।३७।२८)	२३,४७, ६१
स्त्रियो वा पुरुषा वापि	(वाम.पुरा)	७२
स्त्रीभावो गूढः	(सुबो.१०।१८।५)	७२
स्नेहो भक्तिः	(नार.पञ्च)	१५५
स्वधर्मस्थो यजन् यज्ञैः अनाशीः	(भाग.पुरा.११।२०।११)	५७
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो	(भग.गीता ३।३५)	७३
स्वभावविजयः शौर्यम्	(भाग.पुरा.११।१९।३७)	३८
स्वयम् आविर्भूतः	(सुबो.१०।४४।५२)	३६
स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः	(भाग.पुरा.६।१७।२८)	८२
स्वसखीभ्योऽन्ववर्णयन्	(भाग.पुरा.१०।१८।३)	९१
स्वागतं वो	(भाग.पुरा.१०।२६।१८)	३,३४
स्वाम्यभिप्रायसंशयाद्	(वि.धै.आ.२)	६४
स्वास्यं प्रादुर्भूतं चकार	(सर्वो.स्तो.३)	१३
हरामि अघं हि स्मर्तॄणां	(महाभा.१२।३४२।६८)	३९
हरि हरि हतादरतया	(गीतगोवि.७।१)	१४०
हरेर्निवासात्मगुणैः	(भाग.पुरा.१०।५।१८)	१५४

उद्धृतग्रन्थसंकेततालिका

अग.संहि.	अगस्त्य संहिता
अद्वै.मंज.शिव.त.वि.	अद्वैतमंजरी.शिवतत्त्वविवेकव्याख्या
अम.कोश.	अमरकोशः
अमरुशतकम्.	
ईशा.उप.	ईशावास्योपनिषद्
ऋक्.संहि.	ऋग्वेदसंहिता
ऋक्.संहि.खि.खि.सू.	ऋग्वेदसंहिता खिलखिलसूक्तानि
एकाक्षरकोशः	
ऐत.ब्रा.	ऐतरेयब्राह्मणम्
कठोप.	कठोपनिषद्
कूर्मपुरा.	कूर्मपुराणम्
गरु.पुरा.	गरुडपुराणम्
गीतगोवि.	गीतगोविन्दम्
गो.उ.ता.उप.	गोपालोत्तरतापिन्युपनिषद्
गो.पू.ता.उप.	गोपालपूर्वतापिन्युपनिषद्
गोपथब्रा.	गोपथब्राह्मणम्
गौतमीयतन्त्र.	गौतमीयतन्त्रम्
चतुः.चिन्ता.वि.रह.	चतुर्वर्गचिन्तामणि.विष्णुरहस्यम्
छान्दो.उप.	छान्दोग्योपनिषद्
छान्दो.ब्रा.	छान्दोग्यब्राह्मणम्
जैमि.सू.	जैमिनिसूत्रम्
त.दी.नि.	तत्त्वार्थदीपनिबन्धः
त.दी.नि.प्र.	तत्त्वार्थदीपनिबन्धप्रकाशः
तैत्ति.आर.	तैत्तिरीयारण्यकम्
तैत्ति.उप.	तैत्तिरीयोपनिषद्

तैत्ति.ब्रा.	तैत्तिरीयब्राह्मणम्
तैत्ति.संहि.	तैत्तिरीयसंहिता
नवरत्न.	नवरत्नम्
नार.पञ्च.	नारदपञ्चरात्रम्
नार.पुरा.	नारदपुराणम्
नैषधीयचरित्रम्.	
नृ.उ.ता.उप.	नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद्
नृ.पू.ता.उप.	नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद्
पञ्चतन्त्र.	पञ्चतन्त्रम्
पद्मपुरा.	पद्मपुराणम्
पा.धा.पा.	पाणिनिधातुपाठः
पाणि.सू.	पाणिनिसूत्रम्
पाणि.सू.वा.	पाणिनिसूत्रवार्तिकम्
पाणि.सू.सि.कौ.	पाणिनिसूत्रसिद्धान्तकौमुदी
प्रबो.चन्द्रो.	प्रबोधचन्द्रोदयम्
प्रेमामृत.	प्रेमामृतम्
प्रेमामृतविव.	प्रेमामृतविवरणम्
पु.प्र.म.	पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः
बृह.उप.	बृहदारण्यकोपनिषद्
ब्रह्मबिन्दु.उप.	ब्रह्मबिन्दूपनिषद्
ब्र.सू.	ब्रह्मसूत्रम्
ब्रह्मवैव.पुरा.	ब्रह्मवैवर्तपुराणम्
भ.व.	भक्तिवर्धिनी
भग.गीता.	श्रीमद्भगवद्गीता
भग.गीता.गूढा.दी.	श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिका
भाग.पुरा.	श्रीभागवतपुराणम्
महाना.	महानारायणोपनिषद्
महाभा.	महाभारतम्

महोप.	महोपनिषद्
माण्डु.उप.	माण्डुक्योपनिषद्
मुण्ड.उप.	मुण्डकोपनिषद्
याज्ञ.स्मृ.परि.	याज्ञवल्क्यस्मृतिः
रससर्वस्व.	श्रीविट्ठलेश्वरविरचितं रससर्वस्वम्
रामा.	श्रीमद्वाल्मीकिरामायणम्
रामा.च.श्रा.कृ.	रामार्चनचन्द्रिका श्रावणकृत्य
रूपगो.पद्या.	रूपगोस्वामिपद्यानि
ललि.त्रिभं.स्तो.	ललितत्रिभंगीस्तोत्रम्
लौ.न्या.सा.	लौकिकन्यायसाहस्री
वल्लभाष्ट.	वल्लभाष्टकम्
वा.प.	वाक्यपदीयम्
वाम.पुरा.	वामनपुराणम्
विज्ञ.सखीभाव.	विज्ञप्तयः. सखीभाववतान् प्रति
विद्व.मंड.नित्यली.	विद्वन्मण्डननित्यलीलाप्रकरणम्
विद्व.मंड.जीवाणुत्व.	विद्वन्मण्डनजीवाणुत्वप्रकरणम्
वि.धै.आ.	विवेकधैर्याश्रयः
विष्णुपुरा.	विष्णुपुराणम्
विष्णुधर्मो.पुरा.	विष्णुधर्मोत्तरपुराणम्
शतप.ब्रा.	शतपथब्राह्मणम्
शाब.भा.	शाबरभाष्यम्
श्रीप्रभु.का.	श्रीप्रभुचरणकृतस्वतन्त्रकारिका
प्रभुचरणपत्राणि	
श्रीरघुनाथकृ.कृष्णा.वि.मं.	श्रीरघुनाथकृतकृष्णाश्रयविवरणमंगलाचरणम्
शृंगा.मण्ड.	शृंगाररसमण्डनम्
श्वेता.उप.	श्वेताश्वतरोपनिषद्
सर्व.दर्श.चार्वाक.	सर्वदर्शनसंग्रहः. चार्वाकदर्शनम्

स्कन्दपुरा.	स्कन्दपुराणम्
संन्या.निर्ण.	संन्यासनिर्णयः
सर्वो.स्तो.	श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम्
सुबो.	सुबोधिनी
सुबो.का.	सुबोधिनीकारिका
सेवाश्लो.	सेवाश्लोकाः
स्कन्दपुरा.	स्कन्दपुराणम्
हनुमन्नाटकम्	

भगवद्रूपसेवार्था पुष्टिसृष्टिर्हि सर्वथा ॥
ऋतं कर्तुं निजाचार्योक्तिं यः प्रादुर्बभूव श्री- ॥१॥
बालकृष्णगृहे सेव्यबालकृष्णापहारकः ॥
कृष्णसेवां विना स्थातुमशक्तः पुष्टिशक्तिमान् ॥२॥
चकार कलहं दिव्यं प्रभुरत्यनुभावकम् ॥
वाक्पतेर्वाणीव्याख्याता तत्सुतयोर्हि भक्तिमान् ॥३॥
पुरुषोत्तमपितृव्यो दिव्यतापीतटे स्थितः ॥
श्रीश्यामलसुतः श्रीमान् व्रजरायो विराजते ॥४॥